

सम्पादकीय वक्तव्य

प्रत्येक की आंख के सामने मायावी अविद्याकृत प्रपंच है। प्रत्येक देख रहा है कि अनुभवगम्य पदार्थ के शुभाशुभ, धौव्य, अनित्यरूप में प्रतीयमान धर्म कालचक्र में आबद्धजीव को अनादिकाल से अपने चक्रव्यूह में फंसाये हैं। व्यावहारिक रूप से परिग्रहीत प्राकृतिक मोहजाल स्वरूप जगत की चमक अत्यन्त स्वर्णमय है। अतः इस परित देदीप्यमान कांचनाभ से जीव भ्रमाया है। वास्तविक सत्य को वह पहचान नहीं रहा है-हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यापिहित मुखम्'। सत्यस्वरूप परमतत्व का दर्शन करने वालों को इस सृष्टि के मोह से दूर होना चाहिये। जीवन की प्रगति के लिये जो अत्यन्त अपेक्षित है वह 'आत्मज्ञान' है। प्रायःबाह्य सृष्टि के ज्ञान से व्यक्ति अभ्युदय की कामना करता है वस्तुतः वे व्यक्ति आत्म शक्ति के गौरव से अनभिज्ञ हैं। आत्मज्ञान होने पर सृष्टिज्ञान स्वतः स्फूर्त होता है। उसकी अनुपयोगिता तथा असारता का आभास होता है। परन्तु यह भी सत्य है कि आत्मज्ञान के लिये सृष्टि विद्या की भी उपयोगिता है। दोनों में समरूप से किया गया श्रम ही ध्येय में श्रेयस्कर होता है। यही कारण है कि हमारी आचार्य परम्परा अध्यारोप अपवाद से अर्थात् अज्ञान पुरस्सर ज्ञान का ज्ञान कराती रही।

इशोपनिषद् में लिखा है-

अन्धतमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपास्ते,

ततो भूय इव ते तमो यउ विद्यायां रताः ।

आत्मचिन्तन में अनुरक्त व्यक्ति के समस्त कार्य आत्मवत् ही हुआ करते हैं-- 'ब्रह्मविद् ब्रह्मो व भवति'। समस्त भूतों में जिसने आत्मा को देखा है या समस्त व्यक्तियों को जिसने अपने व्यक्तित्व में आत्मसात किया है उसका जीवन ही ऐहिक, तथा आमुष्मिक अभ्युदयमय है। मूल गुणों का प्रकाश स्थल है ज्ञान, बल, धर्म, अहिंसा, न्याय, पराक्रम, प्रेम, व्यवहारकुशलता, स्वाधीनता, सौन्दर्य, सत्यप्रियता तथा पूर्णता एवं उदात्तता की यह जन्मभूमि होती है। इस जीवन की सफलता की सफलता इसी में है कि हम साँसारिक भावों अर्थात् भावों परिणामों के दुखों से बचने के लिये अपनी आत्मा का विस्तार करें 'महान्तं विभुमात्मनं मत्वा धीरो न शोचति'। प्रत्येक जीव अपने जीवन का स्वतन्त्र ईश है। हमें ईश भाव से जीवित रहने का अभ्यास करना चाहिये। 'इशावास्यं इदं सर्वम्' का यही अभिप्राय है। अकेला ही जीव एक शरीर के साथ

जन्म लेता है उसी शरीर में अपना जीवन यापन कर दूसरा शरीर धारण करता है अतः हमें स्वयं की आत्मप्रेरणाओं को जाग्रत करना चाहिये । यदि प्रत्येक जीव इस संसृति में इसी प्रकार आत्मवत् व्यवहार करे तो यही भू स्वर्ग है ।

जीवन की प्रत्येक असफलता के लिए जीव स्वयं जिम्मेदार है । उसने अपने चारों ओर अज्ञानजन्य राग, द्वेष, मोह, आस्मिता, अभिनिवेश के ऐसे ताने बुन लिये हैं कि वह उसने नहीं निकल पाता है । इस नश्वर शरीर के परकोटे में बन्द जीव के शरीर की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये धन सम्पत्ति, वैभव विलास सम्बंध रूप बन्धनों को ही अपने अन्तिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लिया। वस्तुतः इनके साथ राग द्वेषादि के सम्बन्ध बनाना फलतः भ्रम दुख जाल में फंसना, आत्मविकास के लक्ष्य से च्युत होना है अतः ज्ञान के आलोक में उनमें केवल निरपेक्ष उपकार वात्सल्य सहयोग का व्यवहार ही अपेक्षित है । सम्यक् ज्ञान सम्यक् चारित्र्य से अपूर्ण व्यवहार हो नितान्त अभ्युदय सापेक्ष होता है । कहा भी है-- ‘इ गानेन कृतं श्रदयोपनिषदा वीर्यवत्तरं भवित’ ।

यद्यपि ज्ञान का मार्ग सहज नहीं तथापि मानव जीवन के अतिरिक्त कोई अन्य जीवन इसको अपनाने में इसका सहायक भी नहीं है ‘नरत्वं दुर्लभं लोके’ का आशय यही है कि हम दुर्लभ जीवन का सहयोग आत्मोत्थान में करें । कुछ व्यक्ति इसके लिये भी ‘ईश्वर प्रेरणा’ की प्रतीक्षा में रहते हैं, परन्तु ध्यान रहे इस बार मनीषो के रूप में पैदा होने का अवसर प्राप्त हुआ है ‘स्वयम्भु’ तथा ‘परिभू’ तुम्हें स्वयं बनना है । गीता के अनुसार कर्म आरम्भ करने का अधिकार तुम्हें ही प्राप्त है। अपने परम पिता परमात्मा के द्वारा प्रारब्ध किये यज्ञ कर्म को पूर्ण करना पुत्र का कर्तव्य है । ‘अनुव्रत पितुः पुत्र’ । पुत्र का कर्तव्य है कि वह गुण, धर्म, शील में अपने पिता का अनुकरण करे तथा उसके द्वारा किये गये कार्यों का अनुकरण करते हुये गतिमान रहे ।

भारतीय मनीषा ने सत्य के अन्वेषण को मानव जीवन का लक्ष्य माना है । भागवतकार का कहना है ‘जीवस्य तत्त्वं जिज्ञासा’ अर्थात् तत्त्व की जिज्ञासा ही जीवन का उद्देश्य है यही कारण है कि विश्व में ‘भारत अध्यात्म गुरु’ के रूप में स्वीकार किया गया । भारत ने तत्त्व ज्ञान की वेदी पर अपना सदैव सर्वस्व न्यौछावर किया है, अपनी प्रतिमा का सारा वर्चस्व चढाया है । जीवन चिन्तन को पराकाष्ठा के रूप में परम श्रेयमूलक निवृत्ति एकमात्र भारत धरा की उपज है। इसे

अत्यन्त गौरव के साथ डिण्डिम घोष में कहा जा सकता है। 'प्रवृत्ति' तो विश्व के सभी धर्मों किंचित अन्तर के साथ समाविष्ट है परन्तु जीवन का यह एकमात्र लक्ष्य नहीं है। निवृत्ति का मार्ग जिसका चम लक्ष्य मुक्ति है, इसका अर्थ सर्वथा शरीर त्याग अथवा संसार से पलायन नहीं है। अपितु यह मार्ग सांसारिक कष्टों की एकान्ति तथा आत्यन्तिक निवृत्ति का पक्षधर है। जिसके लिये लैकिक तथा अलौकिक उपाय सर्वथा दोषपूर्ण एवं हेय है। इस मार्ग के लिए आत्मज्ञान का अभ्यास एवं सांसारिक पदार्थों से चित्तवृत्ति को हटाना ही अत्यन्त उपादेश है। दीर्घकालिक, नैरन्तयपूर्ण तथा सत्कार भावना से आपूर्ण अभ्यास तथा वैराग्य की भावना ही परम अभ्युदय के लिए सापेक्ष होती है। यही सिद्ध तथा साधु पुरुषों की विचार तथा जीवन सरणी का लक्ष्य रहा है।

इसी परम्परा में जैनधर्म के प्रतिमूर्त श्री सुखमालचन्द्र जैन के वक्तव्य तथा अत्यन्त स्फुट रूप में लिखे उनके लेख जिज्ञासू प्रवृत्ति तथा नितान्त श्रेय अभ्युदय के आकांक्षी सहृदयो की जीवन यात्रा के अक्षय पाथेय है। प्रस्तुत लेख संग्रह में जैन धर्मानुसार आस्त्रव को गतिहीन बनाने में संवर की उपादेयता के लिये जिस अनुप्रेक्षा अथवा भावना की अपेक्षा होती है उससे सम्बन्ध श्री जैन के विचारों से सुपरिचित होने का सुधीजनों को अवसर प्राप्त होगा।

अनुप्रेक्षा शब्द-अनु तथा प्र उपसर्ग पूर्वक इक्ष धातु से सम्पन्न होता है जिसका अर्थ है अनुगत रूप में प्रकृष्टता के साथ समीक्षण अथवा चिन्तन जैन धर्म में द्वादश अनुप्रेक्षाएँ हैं जिनके अनुचिन्तन से जीवन में समतारूपी सुख वैसे ही प्रकाशित होता है जैसे वायु के लगने से अग्नि- 'जिभि ज्वलन पवन के लागे'। अनित्य, अकारण, संसार, एकत्व, अत्यन्त, अशुचि, आस्त्रव संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ तथा धर्म भावनाओं के मनन निदिध्यासन से हो स्थिर सुख की प्राप्त सम्भव है।

डॉ. देवीन्चद शर्मा

प्रवत्का, संस्कृत विभाग

जे.वी.जैन कालिज, सहारनपुर

अनुप्रेक्षण

विवेचक-सुखमाल चन्द्र जैन,

सुवर्णभद्रकूट चैत्यालय,

एफ-३, ग्रीन पार्क नई दिल्ली-१६

हम कौन हैं, क्या हैं, कहाँ हैं क्यों हैं? हमारे चारों तरफ मनुष्य, अनेक प्रकार के पशु-पक्षी, अनेक प्रकार के पेड़-पौधे कैसे हैं, किस लिये हैं ऐसे हजारों प्रश्न मन में उभरते हैं लेकिन इनका सही समाधान किये बिना ही मनुष्य जीवन की भोगोपभोगी-सामग्री को जुटाने और प्रयोग करने में लगा रहकर, जीवन पूरा कर देता है।

जी धन संपत्ति भोगोपयोग-सामग्री हाथ लग जाती है उसे अपना मानता है। जो मनुष्य संपर्क में आते हैं उनसे अनेक प्रकार के सम्बन्ध बनाकर उनको भी अपना कहता है। जो शरीर-मन वाणी तो उसकी प्रवृत्तियों के समाधान ही है किन्तु इनकी भी पूरी जानकारी उसे नहीं होती है। भ्रमवश मिथ्या-धारणायें बनाकर, संयोगी पदार्थों के आधार पर प्रतिष्ठा सुख मानता हुआ इष्ट-संयोगों के वियोग पर दुःख-शोक अनुभव करता हुआ, अनष्टि संयोगों से परेशान रहता हुआ, बलवान शक्तियों-पदार्थों से भयभीत होता और निर्बल प्राणियों पर अत्याचार करता हुआ जीवन व्यतीत कर देता है।

किन्तु जिनकी भवितव्यता अच्छी होती है, वे मनुष्य उपयुक्त मैलिक प्रश्नों का समाधान प्राप्त करना जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाते हैं। समाधान अनुप्रेक्षण से प्राप्त होता है। तब उन्हें दीखता है कि संसार परिवर्तनशील हैं, कोई दुसरी शक्ति शरण नहीं दे सकती है, अकेला ही जीव भ्रमण करता है, प्रत्येक नये जन्म में नया शरीर धारण करता है, हिंसा से दुःख और अहिंसा के आचरण से सुख पाता है, धर्म (स्वभाव) का ज्ञान बहुत दुर्लभ है।

आप भी स्वयं इसी प्रकार करें, इसलियें लघु-पुस्तिका के इस प्रथम खण्ड में कुछ अनुप्रेक्षा के विषयों पर विवेचन प्रस्तुत हैं। दूसरे खण्ड में आत्मा को संसार से मुक्ति प्राप्त करने के उपायों पर विचार होगा।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा इनमें मुख्यतम है। अपने से विश्व के सब पदार्थ अन्य है' | इस सत्य से वर्तमान में यह प्रवृत्ति अपनाई जा रही है (इसी संसार में दुःख भय क्लेश अभाव युद्ध व्याप्त हो रहे हैं कि फिर अन्य से कोई संबन्ध नहीं है-इसका खुलकर शोषण करो, यह मरे या जिये, भुखो हो या दुःखी, हमें क्या मतलब।

इसी सत्य से यह समझा जा सकता है कि फिर अन्य का शोषण करने का हमको कोई अधिकार नहीं है और उसके सुख से जीवित रहने पर ही हम भी निराबाध रह सकते हैं। वर्तमान नीति का कुफल सामने आ रहा है तो इसको त्याग कर अब 'जीने दोगे तो जी सकोगे' का नार बुलन्द करना उचित होगा। तब मद्यपान मांसाहार जुआ चोरी वेश्यागमन, परस्त्रीसेवन और असत्यभाषण आदि अन्य को (और स्वयं को भी) दुःख-क्लेश पहुंचने वाली प्रवृत्तियों का त्याग करना होगा।

अनुप्रेक्षाओं के महत्व का वर्णन महाकवि 'दौल' इस प्रकार करते हैं
इन चिन्तन सम-सुख जागे,
जिमि ज्वलन पवन के लागै ।
जव ही जिय आतम जानै,
तब ही जिय शिव सुख ठानै ॥
वैरागव-उपावन भाई,
चिन्तो अनुप्रेक्षा भाई ॥

अनुप्रेक्षण वैज्ञानिक साधन है राग-द्वेष-मोह का इसमें प्रवेश नहीं है- अतः वह बन्ध रहित शुद्ध है, शुभ नहीं है जो पुण्यबंध कराता है।

अनित्य अनुप्रेक्षा

अजीवकाया. धर्माधर्माकाशपुदगलः-द्रव्याणि--जीवाश्च--कालश्च ।

उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्-सध्व्य लक्षणम् ॥

गुणहर्ययव ध्व्यम् ।

[श्री तत्त्वार्थसूत्र-अध्याय ५]

जीव पुद्गलधर्म अधर्म आकाश काल यह छः द्रव्य है द्रव्य का लक्षण सत् है। उत्पाद व्यय धौव्य से युक्त तथा गुणों से युक्त द्रव्य होता है।

प्रतिक्षण द्रव्यों की नवीन पर्याय का उत्पाद (उत्पन्न होना) और पहली पर्याय का व्यय (नाश) होता रहता है तथापि द्रव्य के गुण स्थिर (धौव्य) भी रहते हैं। विश्व का यह मूल सिद्धान्त है । धौव्य-गुण की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य शाश्वत् और अविनाशो है। और विश्व अनादि-निधन है

जिसका सृष्टा-कर्ता-हर्ता कोई नहीं हैं। उत्पाद व्यय गुणों की अपेक्षा यही विश्व निरन्तर परिवर्तनशील है (इनका रूप बदलता रहता है) काल द्रव्य परिवर्तन में निमित्त कारण होता है ।

परिवर्तनशीलता के कारण होती रहने वाली अनित्यता अधिकतर सुखद होती है किन्तु कभी दुःखद भी लगती है। इसी के कारण जीवन में गुणों का विकास उन्नति वृद्धि संभव भी है और होते भी हैं । किन्तु परिस्थितियों के निमित्त से सब इसी नियत-विधान के अन्तर्गत मृत्यु-दुर्घटना आधि-व्याधि जीवन में आते हैं तो यही संसारी-आज्ञानी जीवों के कुट लगता है।

शिशु का जन्म, वर्षगाठें, धनोपार्जन आदि माँगलिक घटनाओं पर परिवार उत्सव मनाते हैं। इन घटनाओं का होना जन्मसिद्ध-अधिकार मानता है। यह भूल ही जाता है कि मृत्यु और रोग भी किसी भी क्षण उपस्थित हो सकते हैं। अपने ही परिवार में तथा पड़ोसियों और सम्बन्धियों के परिवारों में ही चुकी इस प्रकार की घटनाओं का अनुभव होते हुवे भी भूलने में ही सुख मानता है। कवियों द्वारा दी गयी चेतावनियों का प्रतिदिन पाठ करता हुआ भी, इनको सुनता हुआ भी, उनके अर्थ पर ध्यान नहीं देता है। कवि कहते हैं--

राजा राणा छत्रपति, हथियन के असवार ।

मरना सबको एक दिन, अपनो-अपनी बार ॥

जोवन गृह गोधन नारी,

हय गय जन आज्ञाकारी ।

इन्द्रिय-भोग धिन थाई,

सुरधनु चपला चपलाई ॥

असल में संयोगों का वियोग है जो नये संयोगों के लिये होना जरूरी है। शरीर, जवानी, पुरुष के लिये नारी और नारी के लिये पुरुष गाये, भैसैं, हाथी घोडे (मोटार कारें), सेवक, भोग-सामग्री--यह सब संयोग ही तो है। संयोगों का मतलब ही यह है कि वे इत्तफाक से कुछ समय के लिये साथी हो गये हैं--जितने समय के लिये जो संयोग साथी हुआ था, उसकी समाप्ति पर उसका वियोग होगा ही। उसके बाद दुसरा संयोग अपनी योग्यता के अनुसार, पहले संयोग से

बढिया भी हो सकता हैं और घटिया भी- किन्तु संसार में जो होता रहा है और आगे होगा वह सब अटल- नियमानुसार ही होता है जिसके विरुद्ध रोना-पीटना सब व्यर्थ है । अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाली घटनाओं में धीरज शान्ति औरा विवेक का सहारा लेना ही किसी दुःस्थिति को सहन कर सकने का उपाय है ।

अनित्यता का मूल कारण, अनित्यता के कारण ही होने वाले शुभ-संयोग को भी ध्यान में रखकर, अनियता के कारण होने वाले इच्छा-प्रतिकूल संयोगों की अनिवार्यता को स्विकार करके दुःख-शोक-ताप-आक्रन्दन न करने से ही असता-वेदनीय कर्म के आस्त्रवबंध से बचा उा सकता है।

तन जीवन यौवन का अस्थिर और क्षणभुंगर होना इन पर्यायों का अपराध नहीं है किन्तु स्वभाव हे जो यह सूचना देता है कि ‘ जो कल करना सो आज करले, जो आज करना सो अब करले, जब चिडियन ने चुग खेत लिया, फुफिर पछताये क्या होबत हैं? ’ शुभ कार्यों के और आत्म कल्याण करने में विलम्ब न किया जाय और पर्याय का विश्वास न करके द्रव्य को शुध्द करने में उपयोग लगाया जाय । अनित्य पदार्थों के पीछे नित्य द्रव्य हे जिसकी ये पर्यायें हैं। वतमान में पर्यायें अशुध्द हैं क्योंकि आत्म-द्रव्य राग द्वेष-मोह के विकारों से अशुध्द हैं।

अशरण अनुप्रेक्षा

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयो रूपकार :- आकाशस्या वगाहः

शरीर वाङ्मनः प्राणापानाः पुदगलानाम् ।

सुख दुःख जीवितमरोणापग्रहाश्च ।

परस्परपग्रहो जीवाणाम् ।

वर्तना परिणाम क्रिया परत्वा परत्वे च कालस्य ॥

(श्री. तत्त्वार्थसुत्र-अध्याय ५)

संसार में प्रत्येक जीव अकेला अशरण चार गतियों में भ्रमण कर रहा हैं। अशरणता को व्यक्त करने वाले छन्द इस प्रकार हैं :-

दल बल देवी देवता मात पिता परिवार ।

मरती बिरियां जीव को कोई न राखन हार ॥

सुर असुर खगाधिप जेतो।

मृग ज्यों हरि करत दलें ते ॥

मणि मन्त्र तन्त्र बहु-होई ।

मरते न बचावे कोई ॥

माता-पिता जो शैशव तथा बालपन में जनक-पालक-पोषक-शिक्षक होने से शरणभूत होते हैं, पुरुष के लिये दारा (स्त्री) और स्त्री के लिये पुरुष जो यौवन-प्रौढत्व में सहधर्मी होते हैं और सहानुभूति करते हैं, पुत्र जो वृद्धावस्था में शरणभूत रहते हैं, देवो-देवता जिनका स्मरण-ध्यान विपत्तियों से धैर्य शक्ति का संचार करता है। सेना-पुलिस जो परचक्र-डाकुवों चोरोंसे जिवनभर रक्षा करती हैं। यह सब साधन मृत्यु से रक्षा करने में अममर्थ होते हैं। मणि-मन्त्र तन्त्र औषधि रसायन का जीवन की अवधि तक ही स्वास्थ्य लाभ में सहायक होते हैं। ऐसा जानकर मनुष्य को आत्म निर्भरता का पाठ प्रारम्भ से ही हृदय में रखना उचित है क्योंकि मृत्यु तो कभी भी घटीत हो सकती है चाहे शैशव हो, चाहे बालत्व यौवन प्रौढत्व, और वृद्धत्व में तो अवश्य ही आयगी यदि वहाँ तक पहुंच सका।

कोई पदार्थ शरणभूत नहीं है परन्तु जीवन में उपकार सब पदार्थों से प्राप्त हो रहे हैं। धर्म द्रव्य से गति (dynamism), अधर्म द्रव्य से स्थिति (ststicity), आकाश द्रव्य से आवास, काल द्रव्य से प्रतिक्षण परिवर्तन के नवीन अनुभव, पद्वल द्रव्य से शरीर वचन मनश्रासोच्वास, सुख दुख जीवन मरण, प्राप्त हो रहे हैं। जीवों में परस्पर उपकार का आदान-प्रदान है (शेष पांच अजीव द्रव्यों का तो जीव से प्रत्युपकार नहीं कर सकता है)। इस प्रकार अशरण से यह अभिप्राय नहीं है कि कोई कुछ उपकार भी नहीं कर रहा है। परिवार समाज राष्ट्र के उपकार से ही इस पर्याय में स्थिति है। इन वर्गों की आवश्यकता है कि व्यक्ति भी इनको सहयोग दे तथा उनके अनुशासन में रहें। परिवार आदि का स्वार्थी कहकर अपमान करना उचित नहीं है क्योंकि इसकी मर्यादा निमित्त होने तक हैं। जो विशेष सुख-दुःख जीव को उसकी उपादान शक्ति की क्षीणता के कारण प्राप्त होते हैं उनमें इन निमित्तों की शक्ति का प्रवेश असम्भव है।

आध्यात्मिक शक्ति के विकास में अर्हन्त सिद्ध साधू और केवली प्रणीत धर्म मंगलोत्तम-शरणभूत हैं परन्तु वे वीतरागी-निमित्त हैं। व्यक्ति अपनी उपादान शक्ति का जितनी मात्रा में उपयोग इन सन्निमित्तों की दिशा में करेगा उतना ही उसको लाभ प्राप्त हो सकेगा ।

अशरण-अनुप्रेक्षा अपनी स्वतन्त्र-स्वाधिन स्थिती को वर्तमान अपूर्ण अवस्था में भी जानने के लिये है-जीवन में भी जानने के लिये हैं-जीवन में उपकार के निमित्त जो परिवार समाज राष्ट्र धर्मनायक धर्म चिकित्सा विज्ञान जीवनोपयोगी-पदार्थ हैं, उनसे विमुख करने के लिये नहीं हैं । उपर्युक्त कवियों के छन्द केवल निमित्तभूत पदार्थों की मर्यादा की सूचना के लिये हैं और मृत्यु के समय इन पदार्थों का ध्यान छोड़कर आत्मशक्ति को मङ्गलोत्तम शरणभूत अर्हन्त सिद्ध-साधु-धर्म में लीन करने की प्रेरणा देने के लिये हैं। जब तक अपूर्णता शेष रहेगी मृत्यु के उपरान्त दुसरा शरीर प्राप्त होता रहेगा और इतिहास की पुनरावृत्ति होगी अर्थात् जीवन परिवार समाज आदि भी पुनः इसी प्रकार उपकार करेगा । राग-द्वेष-मोह के विकार भावों से मुक्त होने पर ही दूसरा शरीर प्राप्त नहीं होगा और आत्म शाश्वत-स्वाधिन सिद्धचक्र में सम्मिलित हो जायेगा ।

संसार अनुप्रेक्षा

मिथ्यादर्शनाविरति -प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ।

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणी योग्यन् पुदगलानादत्ते सबन्धः ॥

(श्री तत्त्वार्थसुत्र-अध्यात ८)

मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय योग बन्ध के कारण हैं । कषाय सहित होने से जीव कर्म के रूप में परिणमन करने के योग्य पुदगल अणुस्कंधों को जो ग्रहण करता है, वही बन्ध है।

अनादिकाल से संसारी जीव इस प्रकार कार्माण-शरीर से बन्धा हुआ चार-गतियों (मनुष्य-पशु-देव-नरक) में भ्रमण कर रहा है। हम लोग मनुष्य हैं जहां जीव के ज्ञान-गुण का इतना विकास है कि हम इस बन्ध की स्थिती और उसके कारणों को जानकर बन्ध से मुक्त होने का प्रयत्न प्रारंभ कर सकते हैं। बन्ध और मुक्ति की प्रक्रिया का विवरण तीर्थङ्करों द्वारा उपदिष्ट है और जैन शासन की कृपा से इस भूतल पर सुलभ है।

बन्ध की वर्तमान स्थिती से बन्ध की प्रगाढता को बढाने या जारी रखने के काम न किये जाकर उसको कम करने वाली प्रवृत्ति की जाये तो बन्दी बनाये रखने वाला पुध्दल-पीन्जरा किसी

समय शक्तिहीन होते-होते टूट ही जायेगा और जीव मुक्त हो जायेगा । मुक्ति की प्रेरणा करने के लिये कविगण कहते हैं-

दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान ।

कहीं न सुख संसार में, सबजग देख्यो छान ॥

चहुंगति दुख जीव भरो है ।

परिवर्तन पञ्च करे है ॥

सब बिधि संसार असारा ।

या में सुख नहीं लगारा ॥

जीव तन - कारागृह में बन्दी है और अनन्त बन्दी जीव इस संसार में भ्रमण कर रहे हैं जो परस्पर परिवार-समाज-राष्ट्र-बन्धु वर्ग-पडौसी-सह व्यवसायी-सह धर्मसंप्रदायी आदि के तानों-बानों से संसार-बन्धनों के अनेक परकोटों का निर्माण करके, जीवन की ही समस्याओं का अनन्त-गुणी बढा रहे हैं, मुक्ति का तो स्वप्न में भी दर्शन करने के लिये विश्राम के लिये भी एक क्षण का अवकाश नहीं देते हैं।

सब पदार्थों की पर्याय की अनित्यता का कारण जो द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-धौव्य है, उसके कारण ही सब पदार्थों में गतिशीलता है जिसमें धर्म द्रव्य निमित्त-कारण है। उस गतिशीलता के कारण संसरण है। संसरण से क्षेत्र और रूप में परिवर्तन होता रहता है।

सभ्यता के आदि में मनुष्य गिरोह बनाकर घूमते रहते थे। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य ने ग्राम-नगरो की रचना करी किन्तु फिर भी व्यक्ति का अस्थायित्व बराबर है क्योंकि वह अपने जीवन में नाना प्रकार की सुविधाओं की वृद्धि के लिये निरन्तर प्रयत्न करना रहता है और अपनी अवस्था से सदा असन्तुष्ट हो रहता है। किसी के जीवन में सुख का सन्तोष अथवा सन्तोष का सुख नहीं है चाहे कितना ही धनाढ्य ही जाय ।

नैसर्गिक इच्छा है कि सुख होना चाहिये । सुख नहीं है तो उसे किसी तरह प्राप्त करना चाहिये ।

इस सम्बन्ध में आज तक के पुरुषार्थी मानवों के अनुभव का निचोड यह है की अध्यात्मिक संतुलन की स्थिरता की प्राप्ति होने तक संसार में सुख की प्राप्ति दुर्लभ है। और पर-पदार्थों के

संयोगों से सुख मिलना असम्भव है। अनुप्रेक्षण के शेष विषयों पर विवेचन करने से पता लगेगा कि स्थायी अनन्तसुख किस प्रकार प्राप्त हो सकने की सम्भावना है।

सूक्ष्म कर्माण-शरीर और उससे प्राप्त होते रहने वाले स्थूल शरीरों के बन्ध की हालत रहने तक तो सुख क्री आशा ही छोड़ो। बन्ध के हेतू जो मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कपाय और योग है, उनकी समाप्ति पर ही सुख प्राप्त हो सकता है। बन्दी को जेल से भुक्ति होने पर ही सुख हो सकता है।

बन्ध के हेतू ऐसे ही कुकर्म और कुभाव हो सकते हैं जो असामाजिक और अनैतिक हों जिनके दण्ड-स्वरूप बन्धन का प्राप्त होना प्रकृतिक हो। मिथ्यादर्शनादि पांचो हेतू इसी प्रकार के हैं अतः निन्दनीय हैं। कषायें तो सक्रिय रूप से असामाजिक है। असामाजिक और अनैतिक भाव व्यक्ति को बन्धन हे हेतू होने से दुःखदायी हैं तथापि रोद्र-परिणामी जीव बेहोशी में हिंसा- झुट-चोरी- परिग्रहसञ्चय में आनन्द मानता है और बन्धन पर उसकी दृष्टी नहीं जाती हैं।

एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षे

एकत्व और अन्यत्व जीव के गुण हैं। इस पर एक साथ अनुप्रेक्षण करना है। अपने लिये एकत्व-अन्य के लिये अन्यत्व।

एकत्व गुण के कारण जीव अकेला है, स्वतन्त्र है। संसार की समस्त शक्तियाँ एकत्रित होकर भी एक जीव गुण को भला या बुरा नहीं कर सकती हैं। ऐसे शक्तिशाली एकत्व गुण को भुलकर ही जीव संसार में अनादिकाल से मारा-मारा फिर रहा है। दर-दर का भिकारी बन रहा है।

सहायता और सहारे की तलाश में दीन-हीन बना जीव अन्य पदार्थों से संयुक्त होता है किन्तु वह संयोग अल्पकालिक ही होता है। (अनित्य अनुप्रेक्षा में इस विषय पर विचार कर चुके हैं) और उतने अल्प समय के लिये भी कोई संयोग शरणभूत नहीं हो सकता है (अशरण अनुप्रेक्षा में इस विषय पर विचार कर चुके हैं)। अन्य संयोग इसी कारण से अल्पकालिक और अशरण होते हैं क्योंकि वे अन्य हैं और उनका अपना एकत्व गुण उनको वियुक्त होने के लिये विवश करता है।

अन्य जीवों-वस्तुओं का संयोग होने पर उस जीव का उनके प्रति यथायोग्य विशेष विनय-रक्षा-स्नेह आदि का सद्व्यवहार करने का कर्तव्य भी तो स्थापित हो जाता है जो उसके लिये नयी समस्याओं खड़ी कर देता है। फिर उनका वियोग होने पर दुख-शोक-भय-शून्यता उत्पन्न करता है। अनिष्ट कष्टदायी पदार्थों का संयोग प्रारम्भ से ही जीवन में कटिनाइयें उत्पन्न करता हैं। अनिष्ट-संयोग का भी नियमानुसार वियोग अवश्य होता है जो सुखदायक लगता हैं।

इस प्रवार-संयोगो-वियोगो के स्वरूप को जानकर उनके आवागमन में हर्ष-विषाद या विषाद-हर्ष न करके उनसे किसी प्रकार कर्तव्य का निर्वाह करते हुवे, सदा अपने शक्तिशाली एकत्व गुण पर ही ध्यान रखने से एक दिन संसार के सब बन्धनों से मुक्ति हो जायेगी। बन्धनकाल में भी दीन-हीन बनकर पर-पदार्थ से याचना और आकर्षण से तो तुरन्त ही मुक्ति का अनुभव होगा। तत्त्वज्ञानियों ने कहा है-

आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय ।

यों कबहूँ या जीव को साथी सगा न कोय ॥

जहाँ देह अपनी नहीं, वहाँ न अपना कोय ।

धन संपत्ति पर प्रगट यह, पर है परिजन लोय ॥

शुभ अशुभ कर्मफलजेते-भोगे जिय एकहि तेते ।

सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के है भीरी ॥

जल-पल ज्यो जिय तनमेंला, पैभिन्न भिन्न नहीं भेला ।

तो प्रगट जुदे धन-धामा, क्यों है इक मिलि सुत रामा ॥

अन्य जीव (माता पिता पति पत्नि पुत्र शत्रु आदि) तथा वस्तुये (धन सम्पत्ति शरीर मकान आदि) सब पृथक अस्तित्व रखते हैं। किन्तु आत्मा अपने अन्यत्व (सामाजिकत्व) गुण के कारण प्रत्येक जन्म में इन संज्ञाधारी पदार्थों से अल्पकालिक संबंध बनाता रहा है। संबन्ध हैं

और उनकी स्थिती आवश्यकता तथा कारण भी है, यह कहना ठीक नहीं है कि कोई सम्बन्ध ही नहीं है। भूल यह हो रही है, कि संबंधो को अपने व्यक्तित्व (एकत्व) से अधिक माना जा रहा है- संबंधों के यथार्थ अन्यत्व स्वरूप को न समझा जाकर उनसे एकत्व माना जा रहा है, और जब यह मिथ्या धारणा पद-पद पर मिथ्या प्रमाणित होती है तो राग-द्वेष-मोह से उत्पन्न शोक-भय-घृणा-कलह-उपद्रव-अपराधों में प्रवृद्धि होते हुवे सभी संसारी जीवों का जीवन दुःख-कलेश से पूर्ण है।

एकत्व-गुण तो जीव के अस्तित्व से पुरी तरह जुड़ा है। किन्तु समाजिकत्व गुण के द्वारा स्थापित सम्बन्ध अपना और उन अन्य पदार्थों की स्थिती इच्छा-रुचि-आवश्यकता के अनुसार निर्धारित होते हुवे परिवर्तनशील और अवक्तव्य होते है। जिस समय जिस पदार्थ से जितना जैसा सम्बन्ध है, उस समये उससे उतना वैसा कर्तव्य तो सही व्यवहार है किन्तु मोह-राग द्वेष-अल्पशक्ति-समस्याओं के कारण अधिकतर मुनष्य न स्वयं कर्तव्य कर पाते है, न ही वे सम्बन्धी कर्तव्य कर पाते है। सब तरफ यही कोशिश रहती है कि हम व्यवहार का प्रदर्शन कर दे और दूरसा पक्ष तन-मन-धन से सच्चा व्यवहार करे। ऐसे व्यापक दुषित वातावरण में सन्तोष और प्रसन्नता तो हो ही नहीं सकती है। परिवार-समाज-राष्ट्र- मित्र-परिजन आदि के संबंधो में असन्तोष-अप्रसन्नता ही इसलिये व्याप्त हो रहे हैं।

भूल का सुधार इस प्रकार हो सकता है कि सब जीव स्वीकार करें कि उनके भी व्यवहार में कमी है। और जब अपने हो व्यवहार में कमी है तो दूसरों के व्यवहार में भी इसी प्रकार कमी है। सब परसपर व्यवहारिक कमी को स्वीकार करते रहे तो शान्त रहा जा सकता है जान बुझाकर बेइमानी से होनेवाली दूसरों की वयवहारिक कमी फिर भी पीडा देती रहेगी किन्तु उस पर भी क्रोध-क्षोभ न करके उचित उपाय-प्रतिव्यवहार का अलंबन लेते हुवे अपनी शान्ति बनाये ही हितकारी होगा।

एकत्व-अन्यत्व दोनो ही गुण प्रतयेक-जीव एकत्व प्रत्येक की शक्ति और स्वभाव है। परस्पर अनय, सब जीव, जीवन में सुविधायें लाने के लिये परिवार समाज राष्ट्र की संस्थायें बनाकर रहते हैं। इन संस्थाओं को सफलता पारस्परिक सहयोग और मैत्रीभाव पर ही निर्भर हैं। यह संस्थायें जीव की एकत्व-आध्यात्मिक शक्ति का विकास पूर्णत्व तक होने मकं निमित्त बनता हैं जैसे विद्यार्थी विद्यालय (समाज राष्ट्र द्वारा संचालित) में जाकर मुख्यतया विद्याध्ययन की शक्ति

को बढ़ाता है, उसी प्रकार अपूर्ण-जीव संसार के विद्यालय में मुख्यतया पूर्णत्व की ओर प्रगति करता है और इस प्रयास में परिवार-समाज-राष्ट्र - धर्मसंस्थान-साहित्य संगीत-कलाओं की प्रवृत्तियों उसकी सहायता करती हैं और उत्साह बढ़ाती हैं। ये सब बाह्य प्रवृत्तियाँ हैं-इनमें आवश्यक योगदान तो करना उचित है, किन्तु इनको ही साध्य मानकर इनमें ही उलझे रहकर, अपनले जीवन के मुख्य उद्देश (पूर्णत्व को और आध्यात्मिक विकास) का भूल ही जाना गलत है।

सफलतापूर्वक आध्यात्मिक विकास कर सकने के लिये संक्षेप में निम्न सूत्रों को ध्यान में रखना आवश्यक है-

१. मूल में आत्मा अकेला ही अपनी जीवन यात्रा अनादिकाल से कर रहा है और अनन्तकाल तक करेगा।
२. अन्यत्व से अस्थायी अल्पकालिक संबंध अनते बिछुडते रहते हैं। इन संबंधों की नीति -न्याय के साथ निर्वाह करना चाहिये। व्यवहार में मोह-राग -द्वेष को स्थान नहीं देना चाहिये।
३. अन्यत्व अधिकांश विपरीत वृत्ति, हिंसक है, कसेर है रुखा अनैतिक अन्यायीभी है फिर भी उससे उलझना अपने मार्ग से च्युत करेगा। अतः ऐसे अन्यत्व से यथासंभव बचते हुवे, कुछ असुविधा-हानि भी शान्तिपूर्वक सहन करते रहने से ही और अपने एकत्व पर ध्यान रखने से ही प्रगति आध्यात्मिक पूर्णता की ओर ही सकेगी।
४. अन्यत्व से व्यवहार में यह नीति अपनानी चाहिये-

मैत्रीभाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे।

दीन-दुखी जीवों पर मेरे करुण स्त्रोत बहे॥

दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे।

साभ्य भाव रखू मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे ॥

गुणीजनो को देख हृदय में मेरे, प्रेम उमड आवे।

बने जहां तक उनकी सेवा करके, यह मन सुख पावे ॥

होऊ नहीं कृतधन कभी मैं, द्रोह न मेरे उर आवे ।

गुण ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषो पर जावे ॥

५. एक मनुष्य अनन्त अन्यत्व का कितना उपकार कर सकता है? बहुत कम। जितना उपकार कर सकेगा, उससे अनन्तगुना उपकार अन्यत्व से पा ही रहा है क्योंकि अन्यत्व अनन्त है। उस मनुष्य की दुर्बुद्धि और दुर्भाग्य वचनातीत हैं और भविष्य घोर अन्धकारपूर्ण है तथा यातनापूर्ण दुर्गति मरणोपरान्त होने वाली है जो संसार में सहयात्रियों से क्रूरता-हिंसा अनैतिकता का व्यवहार करता है। इस जन्म में भी उसे समाज में अपयश और राष्ट्र से दण्ड मिल सकती है यदि वह समाज-राष्ट्र में विशेष प्रभाव-शाली न हो। उससे त्रसित व्यक्ति भी उसे अपयश-दण्ड दिलाने में निमिध बन सकते हैं।
६. आत्मा के साथ लगे अन्यत्व (शरीर) को ही संसार की शक्तिशाली अन्यत्व-शक्ति पीडा दे सकती है। आत्मा का यह मूल अपराध और कमजोरी है कि उसके साथ शरीर का संयोग है। वास्तव में शरीर उसका कारागृह है जहाँ उसके अनन्तज्ञान पर आवरण पडा है। आध्यात्मिक विकास पूर्ण होने पर यह आवरण दूर हो जायेगा तथा कारागृह से भी मुक्ती हो जायेगी।
- तथाकथित त्यागीवर्ग गृहस्थ परिवार का त्याग करता है तथापि गुरु के परिवार का अङ्ग बनता है। अब वह आहार-औषध आवास-विहार आदि आवश्यकताओं के लिये समाज पर आश्रित हो जाता है। कलियुग के वातावरण में आधिकॉश गृहस्थ अनैतिकता से धनोपार्जन किए बिना धानाढ्य और प्रतिष्ठित नहीं बनते हैं। धार्मिक-वृत्ती का गृहस्थ-जो विशेष गुणस्थान प्राप्त करने के लिये त्यागी बनने की कामना करता है, उसे विचार करना चाहिये कि इन अखिल-भारतीय प्रतिष्ठित गृहस्थो के आलंबन से चर्चा करना अच्छा है या अपने संकुचित परिवार में नैतिकता से अल्प धनोपार्जन करके अज्ञात रहते हुवे धार्मिक वृत्ति रखना अच्छा है। संसार अवस्था में अन्यत्व का आलंबन अनिवार्य हैं।

इस विवेचन के प्रकाश में पाठक विचार करें कि निम्न पंक्तिय कहाँ तक उपादेय हैं:-

‘तन धन को साथी समझा था पर ये भी छोड़ चले जाते ॥

अन्यत्व अशुचि जड काया से इस चेतन का कैसा नाता है?’ अल्पकालिक संबंध को सार्वकालिक सम्बन्ध मानने में किसकी भूल है? अपनी या सम्बन्धित पदार्थों की? इसी अशुचि जड काया को ओर ठीकरे समान धन को तो मनुष्य छोड़ना नहीं चाहता है, किन्तु अन्यत्व की प्रचलित व्याख्या सुनकर माता-पिता-समाज-राष्ट्र आदि के उपकारों को भूलना धर्मसम्मत समझ कर कृतघ्न पितृद्रोही समाजद्रोही और राष्ट्र द्रोही बनजाता है। यह अन्यत्व में से एकत्व खोजने का परिणाम है। अन्यत्व की मर्यादा है कि शरीर-सयुक्त जीवन में केवल परस्परोग्रहण करे अपने एकत्व पर जीव स्वयं ध्यान रखें और उसमें दूसरों के अन्यत्व का अधिपत्य न होने दें।

जीव में एकत्व गुण निश्चयनय से प्रधान है। अन्यत्व गुण गौण है, व्यवहारनय से है, शेष संसार से व्यवहार करने के लिये हैं।

अन्य जीवों के व्यवहार की स्थिरता का बिल्कुल भरोसा नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि उनके भावों में स्थिरता नहीं है इसलिये उनका व्यवहार भी अस्थिर है। कोई अन्य भलाई के बदले बुराई भी कर सकता है। और कोई बुराई भी भलाई कर सकता है। एक ही अन्य कभी भलाई और कभी बुराई कर सकता है। रामायण और माहाभारत के कथानकों को ध्यान से विचार करना चाहिये और उनमें से मनुष्य की व्यवहारिक संभावनाओं का बोध ग्रहण करना चाहिये। जब मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम जैसा सर्वोत्तम पति पत्नी के लिये महायुद्ध भी कर सकता है और फिर उसी पत्नी को कपटपूर्वक जंगल में भी छोड़वा सकता है, तो फिर साधारण पत्नियों के व्यवहार का विश्वास किस आधार पर किया जा सकता है? पत्नियों का भी यही हाज़ है। जहां उनका दांव लगता है वे प्रलय मचाती हैं।

श्रवण कुमार जैसे सेवाभावी और राम-लक्ष्मण जैसे आज्ञाकारी पुत्र भी हो सकते हैं और इनसे विपरीत कस जैसे पितृद्रोही भी। भाई-भाईके बीच तो प्रेम की अपेक्षा जन्मजात बैर को ही घटनाये पुराणों में अधिक हैं।

सब विविधताओं का कारण यही है जब अपने एकत्व की प्रधानता होने से स्वार्थी और स्वतन्त्र हैं। व्यवहार के संबंधों और धर्म तथा मानवता के बंधनों-कर्तव्यों को वे स्वयं ही प्रमुखता

जब जहाँ देने की कृपा करते है तब वहाँ कुशलता रहती है, अन्यथा उथल-पुथल और विप्लव रहता है। राष्ट्रों के बिच युध्दो का यही कारण है। संप्रदायों के बीच धर्म के नाम पर संघर्ष और हिंसा का भी यही कारण है ।

एकत्व और अन्यत्व को भली प्रकार समझ लेने पर संसार में और कुछ जानना शेष नहीं रहता है। अपने को जान लिया तो जो अपने जैसा ही है परन्तु भिन्न है, वही अन्य हैं। यही स्व-पर का भेद विज्ञान है।

अपने से गलती होती रहती है। ऐसे ही अनन्त दूसरों से गलतियों हो रही है। हम चाहते हैं कि हमारी गलतियों को क्षमा किया जाये तो दूसरे भी यही चाहते हैं। लोटा भर पानी छाना जा सकता है, पूरा कुआ नहीं छाना जा सकता है, अतः जो व्यक्ति अपनी उन्नति चाहता है वह क्षमा के व्यवहार को अपनाये और अपनी गलतियों के लिये विनयपूर्वक क्षमा प्रार्थी रहे। यही कल्याण का मार्ग है।

अन्यत्व को अधिक समझाने के लिये परिशिष्ट में ‘ नारी और दहेज पर अधिक विवेचन प्रस्तुत है ’।

अशुचि अनुप्रेक्षा

दिपै चाम चादर मठी, हाड़पीण्जरा देह ।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह ॥

पल रुधिर राध मल थैली,
कीकस वसादि तै मैलो ॥

नवद्वार बहै मल भारी,
अस देस करे किम चारी ॥

जिससे संयोग के कारण सारे विश्व और विशेषतः परिवार-समाज राष्ट्र-मित्र-कुटुम्बियों-नातेदारों से संबंध होता है, सर्वप्रथम इस शरीर के अशुचित्व पर मनीषियों ने ध्यान दिलाया। संसार में सभी तो दहधारी है। तो यह संसार ही अशुचि है।

देह के भीतर आत्मा यदि स्वच्छ-सुन्दर होता तो कैसे इसमें रहता और इससे इतना मोह रखता कि इसकी रक्षा के लिये अशुचि पदार्थों (मांस मद्य मधु उदम्बर-फल आदि अभक्ष्य) का सेवन करता। आत्मा स्वयं ही राग-द्वेष-मोह के कुत्सित भावों के कारण मलीन है। अनुप्रेक्षण इसीलीये किया जा रहा है ताकि आत्मा अपनी विषम और अशुचि अवस्था को समझ कर अपने को शुद्धि पवित्र अनाने के प्रयत्न में लग जःये। इस समय तो आत्मा इतना संसार के जाल में फंसा है और अपने स्वरूप को भूला हुआ है कि उसे यह सब होश में लाने का प्रयत्न और संसार-जाल से मुक्त होने की चर्चा भी व्यर्थ तथा बहुत बुरी लग रही है।

संसार के स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को मृत्यु के समय होता है किन्तु उससे लाभ उठाकर प्रशस्त मार्ग पर चलने के लिये समय हीह शेष नहीं रहता है। अपना अनुभव बता जाने की भी शक्ति नहीं रहती है अतः जीवन के शक्ति-सम्पन्न काल में जल्दी ही इस तरफ ध्यान देकर स्वयं अनुभव करना हितकार है।

आस्त्रव अनुप्रेक्षा

काय-वाङ्मनः कर्म योगः। स आस्त्रवः।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।

(श्री स्वार्थ सूत्र-अध्याय ६)

नौका जल के ऊपर रहती है तो ठीक है किन्तु यदि जल नौका में आने लगता है तो नौका डूब जाती है। जल नौका में तब अता है जब उसमें कोई छेद हो जाता है।

संसार में जीव रहात है तो काई हानि तब तक नहीं है जब तक वह संसार को अपने भीतर प्रवेश नहीं करने देता है। मन वचन काय के छिद्रों के मार्ग से संसार का जीव को चेतना में प्रवेश ही आस्त्रव है। आस्त्रव के कारण जीव अनादिकाल से संसार समुद्र में डूबा हुआ है। डूबा हुआ है-मरा नहीं है क्योंकि अविनाशी है, अतः बाहर निकालने और किनारे तब पहुंचने किं

उपायों का विचार करने के लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि डूबने के क्या-क्या कारण हैं। मन वचन काय की शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों से संसार के आसत्रव हैं।

संसार में अनन्तानन्त जीव है। अनन्त जीव शुद्ध हैं जो सिद्ध-भगवान हे। उनके साथ भौतिक शरीर का बंधन नहीं है-अतः उनके मन वचन काय भी नहीं हैं। उनके आसत्रव नहीं है। शेष अनन्तानन्त जीव संसार में भौतिक शरीरों के साथ जन्म-जरा-मरण के दुःखो को भोगते हुवे मनुष्य-पशु-देव-नरक गतियों में परिभ्रमण कर रहे हैं। मनुष्य गति के जावों का मन इस योग्य होता है कि वह अपनी स्थिती पर विचार कर सके कि उसको और सब संसारी-जीवों को किन कारणों से दुःख प्राप्त हो रहा है और किस प्रकार उन कारणों को दुर करके जीव सिद्ध भगवान बन सकता है।

मोह नीन्द के जोर जगबासी घुमै सदा ।

कर्म चोर चहुं और सर्वस लूटै सूध नहीं ।

जो जोगन की चपलाई तातें ह आसत्रव भाई ।

आसत्रव दुःखकर घनेरे, बुधवन्त तिन्है निर्वेरे ॥

अनादिकाल से यह दुश्चक्र मोहनिद्रा के कारण चल रहा है। यह नींद टूटे और जीव जागकर सावधान होवे तब मन-वचन-काय में स्थिरता आवे और चंचलता मिटे और बंधन में रखने वाले कर्मों का बंधर समाप्त हो।

मोह से ही अनन्तानन्त संसारी जीव अपनी सुधबुध खोकर भौतिक देह के बंधन में अनादिकाल से पड़ें हैं। इस शक्ति की अनेक उपमाये दी गया हैं। उपर मोह को निद्रा कहा गया है। नीचे उध्दरणों मे देखीये क्या-क्या कहा गया है-

‘ मोह महारिपुजानिके छाड्यो सब घरबार ’

‘ मोह महामद पियो अनादि ।

भूलि आपका भरमत वादि ॥ ’

दुर्जय मोह महामत जाने निजवश कोने जग प्राणी ।

‘ जगत जीव धुमैं बिन ज्ञान ।

कीनो मोह महाविष पान ॥ ’

मोहविष है, मदिरा है, अन्धकार हे- निद्रा है। महामद महारिपू है। कोई साधारण शक्ति होती तो अनन्यशक्तिशाली चैतन्य-आत्मा कभी भी उसके प्रभाव से बाहर हो गया होता। अब भी मोह पर विजय तो जरूर पायेगा ही - उसके अनन्त पूर्वज मोह को जीतकर सिद्ध भगवान बन चुके हैं- किन्तु अभी तो विवेक और पुरुषार्थ को संभालना पड़ेगा।

मोह वह है जो हमें चाहते हैं। हमें कुछ भी चाहने का क्या अधिकार है? जो घटनायें स्वयं ही अपने कारणों से नहीं हो सकती हैं उनके विषय में सोचने और चाहने से क्या लाभ है? और जो अपने कारणों से नहीं हो सकती हैं उनके विषय में भी सोचने और चाहने से कुछ भी लाभ नहीं है। इस प्रकार हर तरह से इच्छा में प्रवृत्ति करने से कोई लाभ नहीं है। इच्छा करना सिर्फ अपनी मूर्खता को प्रगट करना है। मोह के भाव निरर्थक हैं।

फिर भी संसारी जीव कल्पना से जाल बुनते-उधेड़ते रहते हैं। और अपने बनाये जालों में स्वयं हो फंसते-बंधते हुवे हर्ष-विषाद करते रहते हैं। उनका यह कल्पना का संसार का संसार तो माया हो है (तपस्वी-सन्त इसीलीये संसार को माया कहते हैं) 'किन्तु प्रत्यक्ष में अपने कारणों से होती हुई घटनायें माया नहीं हैं-अस्थिर परिवर्तनशील अवश्य हैं (अनित्य अनुप्रेक्षा में इस पर विचार हो चुका है)

मोह की विष भरी मदिरा पीकार गाढी निद्रा में मोहान्धकार में बेहोश सोते हुवे संसारी-जीव मोह के स्वपनों को बनते-बिगडते देखते हुवे इस मनुष्य-आयु को भी पूरी कर देते हैं। कोई भाग्यशाली जीव ही मोह के आवरण के छिन्द्रो से सत्य के दर्शन कर मोह भावों से असहयोग करके अपने को माहे पाश से मुक्त भी कर पाते हैं। वे सिद्धचक्र में सम्मिलित हो जाते हैं।

मोह के प्रभाव में हम परपदार्थों के संयोग को चाहते हैं, अनिष्ट पदार्थों के वियोग को चाहते हैं, जबकि पर-पदार्थों का संयोग-वियोग उनकी अपनी स्थितियों के अनुसार होता है, हमारी इच्छानुसार नहीं होता है। हमारे साथ शरीर के रूप में जो पर-पदार्थ का अनिवार्य संयोग जन्म से है, उसी की रक्षा वृद्धि-प्रतिष्ठा के लिये हमें अन्य सब पर-पदार्थ (धन संपत्ति परिवार समाज राष्ट्र भोजन वस्त्र आवास आदि) का संयोग चाहिये। उनके संयोग के लिये ही सदा प्रयत्न करते रहते हैं। प्रयत्न और परिस्थिति के अनुसार संयोग मिलते भी हैं। उन प्राप्त संयोगों में यदि सन्तोष रहे तो जीवन में संतोष भी रहता है, यदि प्राप्त संयोग में सन्तोष नहीं होता है तो दुःख होता है- यह असन्तोष मोह के कारण होता है।

पर - पदार्थों के संयोग-वियोग के लिये मन-वचन-काय की शक्तियों द्वारा प्रयत्न करना, उनकी प्राप्ति होने पर सन्तोष असन्तोष अनुभव करते हुवे सुख-दुख-हर्ष-विशाद का अनुभव ही संसार-चक्र मे बांधकर रखने वाले पुण्यास्त्रव तथा पापास्त्रव हैं। शाश्वत सुख के लिये आस्त्रव के होने को रोकना है। रोक सकने वाला तत्व सवर है जिस पर आगे विचार करगे।

मन-वचन काय की शुभाशुभ प्रवृत्तियों से आस्त्रव होता है। इनकी प्रवृत्तियों बन्द नहीं की जा सकती हैं। बहुत प्रयत्न और अभ्यास से केवल यह हो सकता है कि प्रवृत्तियों का रूप शुभ-अशुभ न हो। यह प्रयत्न सफल हो जायेगा तो प्रवृत्तियें शुद्ध हो जायेगी ओर आस्त्रव नहीं होगा।

अशुभ प्रवृत्ति के स्थान पर शुभ प्रवृत्ति करने से अशुभ-पापास्त्रव समाप्त हो जायेगा शुभ प्रवृत्ति को उपेक्षा भाव सहित करने से शुभ-पुण्यास्त्रव भी नहीं होगा। उपेक्षाभाव अर्थात् वीतराग-भाव, उदासीन-भाव, त्याग-भाव।

अनुप्रेक्षण के बारह विषयों में शुद्ध आत्मा के स्वरूप पर चिन्तन तो केवल एकत्व-अनुप्रेक्षा में होता है। आत्मा के आतिरिक्त समस्त संसार पर सामान्य रूप से चिन्तन अन्यत्व-अनुप्रेक्षा में होता है। शेष अनुप्रेक्षाओं मे आस्त्रव-सहित आत्मा की स्थिती की अनेक अवस्थाओं पर चिन्तन है।

मोह कितना ही बलवान हो-आज तक आत्मा पर उसका प्रभुत्व आत्मा की अपने स्वरूप की और संसार के अन्यत्व की अनभिज्ञता के कारण ही हो सका है। अनुप्रेक्षण द्वारा इस अनभिज्ञता को दूर कर दिये जाने पर मोह की सारहीन आधारहीन कल्पना स्पष्ट दीखने लगता है। और विचारशील आत्मा में विवेक और आत्मबल का उदय हो जाता है। मोह निश्चेष्ट हो जाता है। आत्मा कहने लगता है कि -

मन शान्त भयौ मिटि सकल द्वन्द्व ।

चारव्यौ स्वात्म - रस दुःख -निकद ॥

जब संयोगी पदार्थ-शरीर, परिवार-समाज, राष्ट्र संपत्ति, व्यवसाय मित्र, शत्रु-सब अन्य हैं, उनका संयोग अनित्य है, उनमें कोई भी शरणभूत नहीं है (केवल जीवन-संचालन में परस्पर उपकार-वात्सल्य-सहयोग-असहयोग का अल्पकालीन सम्बन्ध है) उनके साथ राग -द्वेष- मोह के संबंध बनाना भ्रम दुःख के जाल में फंसना और आत्म विकास के लक्ष्य से स्वयं च्युत होना और उनको भी भ्रष्ट करना है, तो फिर ज्ञान के आलोक में उनसे केवल निरपेक्ष (क्योकी उनकी क्रिया प्रतिक्रिया उनके आधीन है) उपकार-वात्सल्य-सहयोग का व्यवहार रखते हुवे निर्विकल्प

शान्त निर्द्वन्द्व निजानन्द-रसलीन ही रहना उचित है। ऐसी शुद्ध धारणा और निरपेक्ष व्यवहार से ही जीवन सफल स्वस्थ और विकासशील होगा।

धर्म अनुप्रेक्षा

वस्तु स्वभावः धर्मः उत्तमक्षमामार्दवाजव शौच-

सत्य संयम तपस्यागा किञ्चनय ब्रम्हाचर्याणि धर्मः ।

धर्म आत्मा का एक अखण्ड स्वभाव है। उसके दस रूपों के नाम गिनाते हुये भी उपर धर्म एक वचन में ही निर्दिष्ट है। धर्म का आलंबन लेने पर विभाव (राग-द्वेष-मोह) का प्रवेश आत्मा में नहीं होता है इस लिये धर्म सवर है।

प्रारम्भ में ही उत्तम क्षमा की सिद्धि करनी है। क्षमा अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति।

अनन्त अन्यत्व से घिरा हुआ सदा अकेला संसारी-आत्मा प्रतिक्षण अन्यत्व में ही व्यस्त रहधा है। वह शरीर को ही अपना रूप समझता है। अपने अविनाशी चैतन्य-ज्योति स्वरूप को भूल ही गया है। यह नहीं जानता है कि उसने ही जड शरीर को सक्रिय बुद्धिमान और तेजस्वी बना रखा है।

इझ बेहोशी का नाम ही मोह है। मोह के कारण ही जीव अन्य-पदार्था में अपनी इष्ट-अनिष्ट कल्पना के अनुसार राग-द्वेष करता है। राग-द्वेष के अनुसार क्रोध-मान-माया-लोभ कषायों की प्रवृत्ति करता है।

इस मनुष्य-जन्म में आकर यदि उसका अपने स्वभाव से परिचित होने का परम-सौभाग्य प्राप्त होता है और परिचित होने पर यदि उसकी रुचि अन्यत्व के बन्धन से मुक्ति पाने का प्रयत्न करने की ओर होती है तो वीत-राग विज्ञान के उपकारी - निस्पृह-करुणामय-उदार-देव-शास्त्र-गुरु उसकी बेहोशी के कारणों को रोकने के लिये (मन-वचन-काया के निग्रह के लिये) धर्माभूत-पान कायते हैं ओर अनुप्रेक्षाओं द्वारा आत्मा और संसार के स्वरूप पर विचार करते रहने का आदेश करते हैं।

सबसे पहले क्षमा अर्थात् आत्मा की शक्ति का बोध कराते हैं।

अनन्तकाल से अनन्त शरीरों से इस आत्मा ने जन्म लिया और उन अनन्त शरीरों को छोड़ा-फिर भी यह आत्मा वर्तमान शरीर में ऐसे विद्यमान है जैसे इससे पहले कभी दुसरे जन्म नहीं हुवे थे और इस शरीर को छोड़ने से इस प्रकार भयभीत है कि जैसे उसके अस्तित्व का ही

अन्त आ जायेगा। यह स्थिती आत्मा की अनन्त-अविनाशों शक्ति भी दर्शाती है और अज्ञान तथा अज्ञानजनित दीन-हीन-भयभीत-चिन्ताग्रस्त दशा को भी दर्शाती है। इसी प्रकार यह आत्मा अपने परिवार-मित्रो-सम्बन्धियों के जीवन के विषय में भी भयभीत -चिन्ताग्रस्त रहता है।

धर्म के क्षेत्र में क्षमा से तात्पर्य सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान-सम्यक्चारित की शक्ति से है जो आत्मा को शरीर के मन-वचन काय की कैसी भी दुर्दशा होने पर और परिस्थितियों में कैसे भी उपद्रव और विनाश होने पर भी शान्त-स्थिर रखने में समर्थ होती है। मन-वचन-काय की शक्तियों से तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वे तो शरीर के परिवर्तन के साथ परिवर्तनशील हैं। जीवन के क्षेत्र में उनकी भी आवश्यकता है और प्रत्येक मनुष्य विद्याध्ययन वक्तृत्व कला व्यायाम प्राणायाम संतुलित-पौष्टिक-भोज-नादि से शरीरिक स्वास्थ्य जीवन में प्रतिष्ठा की वृद्धि में प्रयत्नशील रहता भी है। ये ही शक्तियें धर्म की शक्ति की प्राप्ति भी कराती हैं।

क्षमा से प्राप्त तत्त्वज्ञान-शान्ति-स्थिरता-पुरुषार्थ को लेकर भव्यजीव के जीवन का विकास किन रूपों को प्रगट करता है और इसे कहाँ पहुंचाता है- इसे धर्म के दस पर्यायवाची शब्द क्षमा मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिञ्चन, ब्रम्हचार्य) प्रगट करते हैं। कवियों ने उनही रूपों का अपनी कविताओं में वर्णन किया है। वह धर्म तत्व का एक अंश भी वर्णन नहीं है- वह तो धर्मात्मा के अन्य पदार्थों के प्रति व्यवहार का एक नमूना जैसा वर्णन है।

आध्यात्मिक ज्योति से प्रकाशमान आत्मा बेहोश-जीवों के हिंसात्मक उपद्रवों-दुर्वचनों से उत्तेजित होकर प्रत्युत्तर में उन बेहोश-जीवों की हिंसा में प्रवृत्ति नहीं करता है। लोहे से लोहे को काटने को तरह हिंसा को हिंसा से आतंकित करके दबाने से हिंसा निर्मल नहीं होता है प्रत्युत उसके ही विज्ञान में वृद्धि होती है। प्रत्यक्ष है कि हिंसा के नये-नये उपकरणों के अविष्कार आज आणविक शास्त्रागार की उस सीमा तक हैं की युध्दविशारद भी आतङ्कित हैं कि उनका विस्फोट सम्पूर्ण पृथ्वी को पचार बार भस्मसात कर सकता है।

धर्म अपनी शरण में आये प्राणों को अहिंसक रहते हुवे पर्याय-त्याग का बल देता है और बल प्रयोग का अन्तिम उपाय केवल आत्मरक्षा-राष्ट्ररक्षा के लिये ही मान्य करता है।

हिंसा की जीवन का आधार बनाकार मांसाहार-मद्यपान-शिकार-पशुबल में वृत्ति करने वाले मनुष्यों ओर जंगली जानवरों में केवल इतना अन्तर रहता है कि मनुष्य अपनी विशेषबुद्धि-बल का दुरपयोग इन पाशविक प्रवृत्तियों में करता है। इस पृथ्वी का दुर्भाग्य है कि इसके निवासी

मनुष्य अधिक संख्या में विवेकहीन हिंसावादी रहे हैं। जिन्होंने पशु हिंसा के साथ मानव हिंसा में भी कमी नहीं रखी है। आणविक अविष्कार तो मनुष्य के ही सर्वनाश के लिये हुवे हैं।

अहिंसावादी धर्मात्मा हिंसा के बीच अहिंसा रखता हुआ यह घोषित करता है कि मानव जाति में हिंसा का बहुमत तो है किन्तु वह सर्वसम्मत नहीं है। और यह कि जहाँ हिंसावादी हिंसा में सफल होते हुये भी चिन्ताग्रस्त-भयभीत रहते हैं वहाँ वह मृत्यु का सामना भी शान्त-स्थिर चित्तता से धर्म की कृपा से करने में समर्थ है। इसी पृथ्वी का यह सोभाग्य भी है कि इसके निवासी कुछ मनुष्य विवेकी भी हैं जिनके मार्गदर्शन के लिये यहाँ अहिंसा धर्म के तीर्थङ्गरो-महात्माओं का जन्म भी हुवा है।

अहिंसा का, निर्बल की आत्मवञ्चना कहा जाकर उपहास किया जाता है। हिंसा के शास्त्रस्त्रों का प्रयोग न करने से और इस कारण अभ्यास न रहने से तुलनात्मक दृष्टि से अहिंसक निर्बल रह जाता है किन्तु यह शारीरिक निर्बलता ही उसके आध्यात्मिक बल की वृद्धि में सहायक होती है। समाचार पत्रों में घटनाबे प्रकाशित होती रहते हैं कि सैना और शासन के अमुक उच्च पदाधिकारी ने आत्महत्या करली है। ऐसी सूचनायें हिंसावादी-वर्ग को आध्यात्मिक निर्बलता को प्रगट करता है। विवेकी अहिंसक-वर्ग को विपक्षियों के आरोपों से क्षुब्ध नहीं होना चाहिये। अहिंसक को दान्तो के बीच जीभ की तरह तो रहना ही पडता है। आध्यात्मिक विकास का पूर्णता होने तक ही तो उसे इस हिंसा प्रधान लोक में शरीर के उपकरणों (मन-वचन-काय) ही सहायता से रहना है। उसे शाकाहारी भोजन में भी अनिवार्य एकेन्द्रिय जीवों को हिंसा का खेद रहता है।

यह लोक अपूर्ण जीवों का निवास स्थान है जो शरीर का आलंबन लेकर आवागमन कर रहे हैं। धर्म सिध्दान्त जीव को पूर्ण होने और शरीर धारण की आवश्यकता समाप्त होने के उपाय बताते हैं। उन्ही सिध्दान्तों का इस विवेचन में विचार किया जा रहा है।

परस्पर मिलजुलकर परमात्मा की उपासना करते रहकर, नीती-न्याय के साथ जीवन बिताने का विधान सभी धर्म-संप्रदाय रकते हैं। जैन संप्रदाय इसके अतिरिक्त आत्मा को शरीर-बंधन से मुक्त होने का प्रयत्न करने की भी प्रेरणा करता है। इस प्रयत्न के लिये असाधारण शक्ति (क्षमता-सामर्थ्य क्षमा) की आवश्यकता होगी।

इस समय लोक में स्थिति यह है कि इने-गिने मनुष्य ही अपने-अपने धर्म संप्रदाय के आदेशानुसार धार्मिक जीवन बड़ी कटिनाईयों का सामना करके बिता पा रहे हैं। जैन धर्मानुयायियों का भी यही हाल है। बन्धन मुक्ति के प्रयन्त के संबंध में तो यह धारणा है कि इस विषम काल में मुक्त हो सकना हो असंभव है। अतः अस संप्रदाय के इने-गने धार्मिक बन्धु इन संवर के कारण दसविधि को पुण्यास्त्रव के स्तर पर धारण कर सकना भी सौभाग्य जान रहे हैं।

इस विवेचन का उद्देश है कि विवेकी पाठक धर्म का तथा अनुप्रेक्षकों की आस्त्रव-निरोधक शक्ति को तत्त्वार्थसुत्रजी के नवम अध्याय के निरूपण के अनुसार जानकर अपने साहस और सम्यक्त्व में नया प्राण डालें और इस जीवन के मुक्ति मार्ग का अन्तिप पड़ाव तो प्राप्त करलें।

क्षमा धर्म इसलिये व्यवहारिक जीवन को महत्व न देकर धार्मिक जीवन में ही एकाग्रचित रहने का आदेश करता है। व्यवहार की इस प्रकार अवहेलना के कारण यदि उस क्षेत्र में अप्रतिष्ठा और उपसर्ग भी आर रहे हों तो उन्हें समतभाव से सहन करके हो मुक्ति मार्ग से प्रगति हो सकेगी। रहस्य को समझे-बिना पूजन के निम्न वाक्य निर्बलता के सूचक तथा अव्यवहारिक लगते हैं।

पडै दुष्ट अनेक, बांधमार बहुविध करें ।

धारिये क्षमा विवेक, कोप न कीजे पीतम ॥

गाली सुनि मन खेदन न आनो ।

गुण को औगुण कहैं अयोनो ॥ इत्यादि

नारी और दहेज

पुरुष के लिये स्त्रि और स्त्री के लिये पुरुष परस्पर अन्य तथा अपरिचित होने के कारण जीवन की प्रमुखतम समस्या है। शेष शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य और धनोपार्जन का प्रमुख समस्याओं भी इसकी तुलना में गौण हैं।

पुरुष और स्त्री दोनों परस्पर पूरक हैं सदा से ही सम्बन्ध स्थापित करके रहते भी आये हैं-
- तथापि प्रमुखत्व के विषय में स्त्री में हीन भावना व्याप्त होने के कारण और दोनों के ही असम्य

होने के कारण परिवार-समाज में निरन्तर उपद्रव रहता है। और राष्ट्र शान्ति रखने में असमर्थ रहता है। धर्म की अज्ञाओं कोई मानता नहीं है क्योंकि उस पर श्रद्धा भी नहीं है। धर्म पुरुष को समाज में प्रमुख और स्त्री को गृह में प्रमुख करता है।

स्त्री की ओर ध्यान जाते ही दीखता है कि वह कोमलाङ्गी, सुन्दर, मृगनयनी, गजगामिनी, मृदुहासिनी पुरुष से शारीरिक शक्ति और शरीर की उंचाई में कम, पुरुष की सहायता के बिना अपनी रक्षा स्वयं कर सकने में असमर्थ, संगीत-नृत्य-सीने-पिरोने-कसीदा-पाकविद्या आदि कलाओं की विशेषज्ञा है। सन्तानोत्पत्ति एवं शिशुपालन की विधात्री है।

पुरुष की ओर ध्यान जाते ही दीखता है कि वह बलिष्ठ-शरीरी, निर्मय-साहसी, क्रूर, युद्ध-कृषि-कारखानों के जोखम भरे कार्यों में सक्षम, धनोपाजैक है। स्त्री और सन्तान का रक्षक है।

सृष्टि का उपादान (मुख्य) स्रोत तथा विद्या-कलाओं से परिपूर्ण स्त्री परिवार का बहुमूल्य अङ्ग है जिसे सुरक्षित रखने के लिये घर के भीतर ही रखना उचित है। वह स्वयं भी अपने अपहरण की संभावना को जानती हुई घर के भीतर ही रहना पसंद करती रही है। वहाँ भी वह ज्येष्ठ पुरुषों से आदर-विनय के कारण और समान-आयु वालों से व्यांभाचार में ले जाने वाले पारस्परिक अवैध-आकर्षण से बचने की इच्छा के कारण, पर्दा ही करना उचित जानती है।

किन्तु साहित्यसर्जक वक्तृत्व कला प्रवीण, नाट्यकार, पत्रकार-और राजनैतिक वर्ग कब चैन से रहने देते हैं। उनको तो सामग्री ही तब प्राप्त होती है जब उथल-धुल हो, अव्यवस्था हो, अराजका हो, पाप-कलङ्क कलह-कत्ल-उपद्रव के समाचार मिलते रहें, गुरुजनों के तथा समाज-धर्म के विरोध के और स्वच्छन्दता व्यभिचार को घटनाओं के विवरण प्राप्त होते रहें स्त्री एकान्तप्रिय सती-साध्वी है तो वे उसे पुरुषों के पीछे रहने की वजाय उनसे भी आगे बढ़कर समाज-राष्ट्र की सेवा करने का निमंत्रण देगे, घर के कारागृह को तोड़ने की सहल दगे। स्त्री आगे आकर लुट-पिट रहीं हैं, अपहृत हो रहीं हैं, वेश्या बन रही हैं, तो वे उसमे भी पुरुषों को ही अपराधी ठहराते हुवे स्त्रियों को कमजोर कोमलाङ्गी न बने रहकर युद्धकला भी पान्द्रत होने की सलाह देंगे। सिनेमा और दूरदर्शन के चित्र तथा वार्ताये स्त्री को स्वतन्त्र-निर्भय होने का आर अग्रसर करगे।

पुरुष अज्ञानो बलवान क्रूर तथा व्यभिचारी है। स्त्री घर के दायरे में रहती है तो वह विधवाओं संबंधियों (साली-सलेज-मामा आदि) को भ्रष्ट करने को प्रयत्न करता है। स्त्री यदि घर से बाहर आजादी से घूमती टकरा जाती है तो वहां प्रलोभन देकर या षडयन्त्र रचकर गायब कर देता है। इस प्रकार पुरुष हर हालत में नारो के लिये समस्या बन रहा है। वह सधवा है और पर-पुरुष से विरत है तो पति हो उसे नौकरानी को तरह उसका अपमान करता है, मारता पिटता तक है। यह भव विकट बन की वर्तमान स्थितीभद्र स्त्री के लिये हैं।

यदि पुरुष विवेक भद्र सहृदय मार्युपासक है तो उसको पत्नि ही समस्त अन्य नारी-वर्ग के अपमान का बदला पुरुष वर्ग से लेने का सहज अवसर पाकर घोरतम उपद्रव करने से नहीं चुकती है। यह भी भव-विकट-बन को कृपा है।

ऐसे परिवार लाटरी का पहला इनाम प्राप्त करने के समान है जहाँ पति पत्नि दोनों विवेकी हों-परस्पर आदर करते हों (इसी को प्रेम कहते हैं) ओर दुनियां को परवाह न करके अपने धर्म ज्ञान के रास्ते पर चल रहे हों उस परिवार में स्वर्ग के दर्शन किये जा सकते हैं।

आत्मा स्वयं एक चैतन्य ज्योतिपुञ्ज है। वह न स्त्री है, न पुरुष । जिस शरीर में उसका प्रवेश जिस समय है, उस समय वह शरीर के लिङ्ग के अनुसार स्त्री या पुरुष कहलाने लगता है। आत्मभावों की शक्ति के अनुसार उस आत्मा के पुरुषभाव हैं जो स्वयं आत्मनिर्भरता में समर्थ है और परिवार की रक्षा करने के भाव रखता है। उस आत्मा के स्त्रीभाव है जो नाज-नखरों के साथ दुसरो का शोषण करते हुवे और किसी प्रकार उनकी कुछ सेवा भी करते हुये जोवन में सुविधा का अनुभव करता हैं। बहुत संख्या में पुरुष देहधारी जीव स्त्रीभाव रखते हैं-वे स्त्रीण कहलाते हैं। पर्याप्त संख्या में स्त्री देहधारी जीव भी पुरुषभाव रखते हैं- वे वीराङ्गनायें कहलाती हैं। विधवा होने पर तो स्त्री को अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिये पुरुष के सभी काम करने ही पडते हैं। अतःपुरुष के पाछे भी रहते हुवे स्त्री को सदा आगे आने के लिये भी तैय्यार रहना आवश्यक है। इसी प्रकार पुरुष को विधुर हो जाने पर बच्चो के लिये माता का भी काम करना पडता है। अतःउसको भी स्त्री के सब कामों को जानकारी और अभ्यास रखना आवश्यक है।

वृद्धा होने पर स्त्री सभी युवावर्ग के लिये माता हो जाती हैं। अपने बच्चों के लिये तो वह 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के अनुसार उच्च तथा आदरणीय हो जाती है। तब वह पुरुषवर्ग से निर्भय हो जाती है। किन्तु 'न स्त्री स्वायन्त्रयमर्हति' के अनुसार स्त्री को

बचपन में पिता के यौवन-प्रौढत्व में पति के, और वृद्धत्व में पुत्रों के अनुशासन में ही रहने का भारतीय सभ्यता का नियम है। जब जहां इस नियम का उलंघन होता है, वहां क्लेश अपयश और दुःख परिवार-समाज को प्राप्त होते हैं।

यौवन-प्रौढत्व में स्त्री को स्वयं ही सतर्कता-संयम के आलंबन के साथ दृष्ट-पुरुष वर्ग से सावधान और दूर रहना चाहिये क्योंकि सपर्क बढ़ने पर उसका ही अपयश तथा हानि होगी। मनीषियों ने कहा है कि धृत कुम्भसमा नारी तप्ताद्भार समो नरः' । इस सूक्ति से भी यही संकेत मिलता है कि बहुमूल्य घी ही जलेगा, तप्ताद्भार समान पुरुष का क्या बिगड़ेगा। यह दूसरी बात है कि दोनों ही आत्माये पशु के समान प्रवृत्ति करने के कारण दोनों को ही पुनर्जन्म में पशु-पर्याय प्राप्त होगी।

यदि इस देश में पुनः ' यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ' का ज्ञान और आदर प्रसारित हो जाय और स्त्री वर्ग का आदर होने लगे तो स्त्री को सबकीसमस्याये समाप्त हो जाये। पाश्चात्य देश इसी कारण भारत से अधिक सुखी समृद्ध हैं कि वहाँ स्त्री को प्राथनिकता (ladies first) कहकर दी जाती है उनको उत्तमार्ध (Better half) माना जाता है तथा (Court Ship) द्वारा उनको प्रसन्नता के साथ अनुमति प्राप्त करके ही विवाह सम्पन्न किया जाता है। वहा से नारी के जलाये जाने या नारी द्वारा आत्महत्या के कोई समाचार है। वहां से नारी के जलाये जाने या नारी द्वारा आत्महत्या के कोई समाचार नहीं सुनने में आये हैं। किन्तु कुटिलता और दुर्भाग्य तो सब ही जगह अपना रङ्ग दिखाते ही हैं।

नारी की समस्याओं में दहेज-प्रथा भी प्रमुख है किसका कोई समाधान आज तक नहीं हो सका है। समाजें प्रस्ताव पास करती रहे, राष्ट्र कानून बनाता रहे, बदनाम वरपक्ष के समाज-राष्ट्र से डरते हुवे भी दहेज और दहेज के के कारण होने वाले अपघात बनद नहीं हैं। समाज-राष्ट्र को मानस शास्त्र (Psychology) तथा अर्थशास्त्र (Economics) के प्रकाश में इस समस्या का विश्लेषण करना उचित होगा। जैसे रिश्वत और कालाबाजार की समस्यायें जयदन्त हैं, वैसे ही दहेज समस्या जयवन्त हैं।

ताली दोनों हाथों से बजती है। जरुतमंद पक्ष रिश्वत देता है, काले बाजार से समान खहीदता है, लड्की के विवाह सम्बन्ध की स्वीकृत कराने के लिये दहेज देता है। नैतिकता को मूल्य देने के कारण जो पदाधिकारी रिश्वत नहीं लेता है, जो व्यापारी काले बाजार के मूल्यों पर

माल नहीं बेचता है, जो वर पक्ष बिना दहेज लिये विवाह-सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, उनका गौरव नहीं बढ़ता है वल्कि उनके मित्र उनको मूर्ख कहकर अपमानित करते हैं। जिन व्यक्तियों परिवारों के उनकी नैतिकता से लाभ पहुंचता है, वे भी उनका आदर नहीं करते हैं।

कन्या पक्ष जब तक प्रार्थयिता रहेगा तब तक यही स्थिती रहेगी। जिन विवाहों में वर पक्ष कन्या के लिये प्रार्थयिता होती हैं। किसी कारण से उनमें कन्यापक्ष अपनी आर्थिक स्थिती के अनुसार अपनी कन्या को तथा दामाद को तथा सम्बन्धियों को इच्छानुसार उपहार देकर कन्या को बिदा करते हैं। वरपक्ष इसी हालत में प्रार्थयिता बनेगा जब उन्हें उस परिवार को वह कन्या स्वीकार करोंगे जो स्वयं इस वरपक्ष के लिये प्रार्थयिता बनकर सम्बन्ध का प्रस्ताव न करतो। कन्या पक्ष यदि कन्या की हैसियत से कम वर से सम्बन्ध करने के लिये तैय्यार हो तो दहेज के नाम पर उसे कुछ नहीं देना पड़ेगा। कानून से दहेज को अपराधर बनाया जायेगा तो दहेज काले बाजार की तरह अदृश्य रूप से दिया-लिया जायेगा। दहेज देने में कन्या पक्ष का भी दोष कैसे कहें-उसे अपनी यौवन प्राप्त कन्या कहीं स्थापित तो करनी ही है। किन्तु जब कन्या पक्ष वर पक्ष को लुभाने के लिये अपने खानदान की उच्चता-उदारता की झूठी तारीफों के पुल बांधता है और स्वयं अपनी हैसियत बढ़ाकर शान-अकड के साथ पेश आता है, उसमें तो कन्यापक्ष का अपराध ही माना जाना चाहिये। ऐसा कन्यापक्ष विवाह के बाद दहेज से भी कई गुणा धन वसूल करके दम लेता है।

दुभग्यि भद्रता-कुटिलता आशा - तृष्णा - सन्तोष जब, जिस व्यक्त्कि - परिवार की, जिस झंझट में डालदे य । उसका संकट - निवारण करदे, वही अवश्यम्भावी हे।

भद्र माता - पिता की उचित है कि वे सन्तान का विवाह स्वयं न करे। विवाहोपरान्त मोह छोडकर सन्तान से अलग रहें किन्तु उनसे मित्रवत व्यवहार रखें। कन्या के उत्पन्न होते ही उसके लिये यथाशक्ति उसके नाम में धन जमा करते रहें। उनका सौभाग्य होगा तो पुत्रपधुवें उनके साथ रहेंगी या उन्हें अपने साथ ही रखेंगी और उनकी पुत्रियें (उनकी दी हुई पूर्र्जी से तथा अपने धनोपार्जन से) स्वाधीन और सुखी रहेंगी ।

माता-पिता विवाह सम्पन्न नहीं करेंगे तो विवाह राष्ट्रीय -कोर्ट में होंगे, उत्सव का खर्च दोनो पक्षों का बचेगा । , मान - उपमान ऊच-नीच का भाव कहीं भी उत्पन्न नहीं होगा । कन्या के

पास अपनी पूजा (जितनी भी हो) होगी वह वर में परिवार में खाली हाथ नहीं जायगी, न ही जाते समय माता- पिता को बबदि या अपमानित होने देगी।

जीवन विज्ञान सफलता

सब मनुष्य यही चाहते हैं कि उनका जीवन सफल हो । सफलता प्राप्त करने के निये उसके उपायों की जानकारी आवश्यक है ।

उसी व्यक्ति का जीवन सफल है जो स्वस्थ है, सक्रिय पुरुषार्थी बलवान है साहसी है, ज्ञानी है, कलाकार है, धर्मात्मा न्यायवान है दयालु दानी है, प्रेमी है, सुन्दर है, याचक नहीं हैं , पराधीन नहीं है, मायाचारी भ्रष्टाचारी नहीं है, रोगी नहीं है, झगडालू नहीं है, हिंसक और क्रूर नहीं है, झूठा बेइमान नहीं है, कूरुप नहीं है, स्वाधी और और चुगलखोर नहीं है, खुशामदी नहीं भाग्यशाली है अभाग्य नहीं है।

इन गुणों का स्वामी आवश्यक धनोपार्जन करने में समर्थ होता है, अपने परिवार-समाज - राष्ट्र -मित्रमण्डल के लिये शक्ति-प्रकाश होता है, मानव समाज का भूषण होता है, प्राणीमात्र का रक्षक और हितेषी होता है।

इन गुणों के विकास के लिये उसे बाल्यकाल में पाठशाया स्कूल कालेज - यूनिवर्सिटी में प्रविष्ट किया जाता हैं, व्ययाम और खेती का अभ्यास कराया जाता है, धर्म की शिक्षा दी जाती है, देश से तथा विश्व से परिचित किया जाता है। युवावस्था में उसका विवाह होता है, वह धनोपार्जन करता है, साहित्य - संगीत-कलाओं में रुचि बढ़ाता हैं , धर्मानुसार जीवन यात्रा करता है।

पाठशाला - स्कूल - कालेज - यूनिवर्सिटी अनेक है, व्ययाम - खेल अनेक प्रकार के हैं, धर्म संप्रदाय अनेक है, साहित्य अनेक विधाओं का अनेक भाषाओं का है। सडीत-कलायें अनेक है, धनोपार्जन के अनेक प्रकार हैं। अपनी स्थिति के अनुसार व्यक्ति कुछ रूपों में ही और साहित्य-संगीत -कलाओं के कुछ रूपों में ही प्रवृत्ति कर सकता है। अपनी रुची के अनुसार ही किसी धर्म संप्रदाय का अडःबनता है और धनोपार्जन के कुछ उपायों का आलम्बन लेता है। राष्ट्र की स्थिति क अनुसार परिवार नियोजन का घ्यान रखता है। समाज - राष्ट्र की दूषित परम्पराओं में सुधार और स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना - ब्रद्धि में सहायता करता है।

मूल गुणों के विकास के इस प्रकार अनेक - २ स्रोत और उपाय हैं। सब स्रोतों और उपायों से विकसित होने वाले गुण एक ही और भावात्मक हैं- ज्ञान बल, साहस, धर्म, न्यायपरायणता, पराक्रम , प्रेम, सहयोग- कुशलता स्वाधीनता स्वास्थ्य, सौन्दर्य, अहिंसा, सत्यप्रियता इत्यादि। उत्तर - दक्षिण - पूर्व- पश्चिम देश के किसी भी प्रदेश में स्थित विद्यालय से संस्कृत भाषा , अंग्रेजी भाषा गणित, भूगोल , इतिहास, विज्ञान , चिकित्सा विज्ञान अदि विषयों की शिक्षा एक ही प्रकार की मिलती है। इसी प्रकार किसी भी धर्म -संप्रदाय की मौलिक शिक्षा में आत्मा में सब जीवों के प्रति मैत्री - करुणा - सेवा के भाव जाग्रत करने के लिये और विश्व की परमशक्ती में विश्वास की वृद्धि करने के लिये हैं।

जीवन की सफलता इस प्रकार किसी भी विद्यालय व्यायाम साधन, धर्म संप्रदाय - धनोपार्जन - न्यायमार्ग आदि के आलम्बन से आत्मा के मूलगुणों का विकास करते रहने और प्राणीमात्र से अहिंसक - व्यवहार करने से होती है। व्यक्ति अपने जीवन का नायक है और स्वतन्त्र है। जीवन में कठिनाइय तो अनेक हैं। साहस बल पराक्रम सम्यवज्ञान की इसीलिये तो आवश्यकता है। जीवन की अशान्ति असफलता के लिये व्यक्ति स्वयं ही जिम्मेदार है। अन्य तत्वों या परिस्थितियों पर दोषरोषण करने से कोई लाभ नहीं है क्योंकि हानि तो इसकी अपनी ही होती है। दोषरोषण में प्रवृत्त होने से विशेष हानि होती है। हानीकारक निमित्त - कारणों पर विजय नहीं होती है (अपनी शक्ति में कमी के कारण) तो असफलता का कारण अशनी शक्ति की कमी को ही स्वीकार करना जीवन की सफलता है शक्ती के अनुसार प्रवृत्ति को संकुचित रखकर इस असफलता को भी बचाया जा सकता।

अब कुछ इस सम्बन्ध में विचार करलें कि संसार में विषम परिस्थिति और हानिकारक निमित्त किन कारणों से है ताकि प्रबुद्ध व्यक्ति उनमें अपना योग न दे और कुछ प्रयत्न उनमें कमी लाने के लिये कर सके।

एक जीव अपने जीवन का स्वतन्त्र नायक है। अकेला ही एक शरीर के साथ जन्म लेता है - उस शरीर में वह जीवन पूरा करके उस शरीर को छोड़ देता है फिर दूसरा शरीर धारण करके जन्म लेता है और उस शरीर को भी छोड़ देता है। ऐसा अनादि काल से होता रहा है और इसी प्रकार आगेभी अनन्तकाल तक होता रहेगा। पुनर्जन्म का यह सिद्धान्त भारतीय धर्मों द्वारा एक तसे है। शेष जीव और विश्व के अन्य द्रव्य तो जीव से प्रत्यक्ष ही भिन्न हैं ही, मृत्यु यह सिद्ध

करती है कि शरीर भी भिन्न है। अतः जीव एक चैतन्य और सूक्ष्म शक्ति सिद्ध होता है जो शरीर के आवरण में ऐसे छिपा है कि स्वयं अपने ही अस्तित्व को भी नहीं जानता है।

पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि चैतन्य शक्ति जीव की समस्या हो सकती है कि उसकी चेतना में ही कुछ विकार हो। बात भी यही है। चेतना की अविकसित दशा में शरीरों के माध्यम से चेतना का विकास होते होते अब जीव पशु गति के शरीरोंसे ऊचे उठकर मनुष्य शरीर में पहुंच गया है जहां मन ओर वाणी सर्वोत्तम स्थिति के हैं परन्तु अनादिकाल से शरीर के साथ रहते रहते वह शरीर को अपना ही रूप मानने लगा है। इसी भ्रम के आधार पर मनुष्य जीवन के सारे व्यापार (शिक्षा, व्यवसाय, भोग विलास, शासन:व्यवस्था, नाते - रिश्ते, लडाई - झगडे, धन - सपदा, सुख - दुख) नये - नये विस्तार लेते जा रहे हैं। भ्रम - व्यापारों के विस्तार से जीव के विकार (क्रोध मान माया लोभ कामवासना भय शोक चिन्तायें) बढ़ते जा रहे हैं और मनुष्यों संकटों के चक्रव्यूह में फसा नारकीय यंत्रणा भोग रहा है। अपने ही हथिया द्वारा निर्मित परमाणु बमों के विस्फोट से उसकी अपना समूल विनाश होता दीख रहा है। चेतना के विकास के साथ भ्रम - विकार का भी उसी कोटि का विकास हो गया है। कुछ लाभ नहीं हुआ।

समय -समय पर तपस्वी सन्तों ने धर्म (स्वभाव - कर्तव्य) का भी उपदेश मनुष्य की दिया। उनके सामने मनुष्य की चेतना जागी परन्तु उनकी समाधिके बाद फिर सो गयी। मनुष्य ने उन्हीं सन्तों की मूर्तियों को ही मंदिर में प्रतिष्ठा कर पूजना और शोभायात्रायें चलाना शुरु कर दिया। अन्याय अत्याचार लडाई - झगडें ज्यो के त्यों रहे बल्कि धर्म के नाप पर अधिक बढ़ गये। अब तो सामाजिक राष्ट्रीय शान्ति की कोई आशा की कोई आशा शेष नहीं है। केवल व्यक्ति ही जाग सकते हैं और वस्तु-स्थिति को समझकर आत्मकल्याण कर सकते हैं।

एक जीव (आत्मा, रुह soul spirit) की अपनी चैतन्य शक्ति ही केवल उसकी शक्ति हैं। चैतना में से भ्रम और भ्रमजनित कोधादि विकारों को जितना दूर करता है उतनी ही वह सक्रिय होती जायेगी। उतना ही जीव के सफलता-धोतक गुण स्वयमेव बढ़ते चले जायेगे। बल्कि केवल भ्रम का दूर होना भी एकदम आसान है- जैसे ही समझ में आया कि कोई धारणा गलत है वैसे ही वह धारणा स्वयमेव ही दूर हो जातो है क्योंकि भ्रम को कौन बुद्धिमान आदर दे सकता है। अब बात सिर्फ इतनी रह गयी कि जान लो सत्य क्या है। तभी सन्त लोग सत्य की खोज में एकान्त स्थानों में जाकर मनन करते हैं।

किन्तु सत्य तो प्रत्यक्ष है कि जीव चैतन्य जड शरीर से भिन्न है। इतना ही सत्य व्यक्ति के जीवन की प्रवृत्तियों में आमूलचूल परिवर्तन लाने के लिये काफी है।

इस भिन्न शरीर से इसकीमृत्यु - पर्यन्त ही जीव का नाता है। संसार के शेष जड -चेतन पदार्थों से इस शरीर के ही कारण सम्बन्ध होता है, जो शरीर के साथ बने सम्बन्ध से भी बहूत कम घनिष्ठता का तथा अल्पकालीन होता है। जागृत जीव व्यवहार कुशल तीक्ष्ण बुद्धि हों जाता है। वह स्वयमेव जड शरीर और उसके लिये आवश्यक जड -चेतन पदार्थों से यथायोग्य प्रबन्ध और नोति - न्याय से ऐसा व्यवहार करेगा की अन्य जीव भी जागृत हो जायें।

कालचक्र पर विश्व के समस्त पदार्थ गतिशील हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीव के लिये शेष संसार के समस्त पदार्थ सहयात्री हैं। जड पदार्थों में परिवर्तन उनकी सम्भावनाओं के अन्तर्गत अन्य पदार्थों में निमित्त से होते हैं। अविकसित चेतनाये जो अभी जड पदार्थों की तरह ही संसार के प्रवाह में बह रही हैं वे भी अपना विकास तो कर रहीं हैं किन्तु अपनी इच्छानुसार नहीं कर सकती हैं।

मनुष्यगति में जीव की चेतना इतनी विकसित है कि वह परिस्थियों की शक्ति का कुछ प्रतिरोध भी कर सकती हैं, तथापि इतनी शक्ति तो अब भी नहीं है कि परिस्थितियों की शक्ति पर विजय प्राप्त कर सके। मनुष्य भी हार मानकरी परिस्थितियों की शक्ति जिधर उसे धकेलती है उधर चला जा रहा है। मनुष्य के साथ जो शरीर हैं वह तों अन्य भी है और जड भी है और चेतना उसके भीतर बन्दी है तो चेतना को भी उधर ही जाना होगा जिधर शरीर जाता है।

वे ही मनुष्य स्वतन्त्र स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं जो पहल शरीर पर अधिकार स्थापित करके उसको अपनी इच्छानुसार चलाते हैं और परिस्थितियों का भी आधिपत्य कुछ सीमा तक दूर करते हैं। मनुष्य ही स्वतन्त्र हो सकता है। स्वतन्त्र होने के लिये उसे शरीर वचन और मन पर आधिपत्य करके आत्मा को जीवन यात्रा का स्वामी बनाना है। मनुष्य भी गति की दोनों में सम्भावना है - वापिस पशुगति में चला जाय, या आगे स्वतन्त्रता की ओप प्रगति करे।

कुछ समय अर्धजागृत अवस्था में बिताना पड सकता है। उस समय शरीर और संसार के सब तथाकथित सम्बन्धों से व्यवहार यथावत करते रहना पडेगा। वह व्यवहार अब क्लेशपूर्ण न होकर शान्ति के साथ होगा। क्योंकि बिना राग - द्वेष - मोह के और बिना फल की आकाक्षा के होगा तथा हर्ष - विषाद से रहित होगा, जिसमें अपना कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व पूरा कर सकने

का सन्तोष होगा। इस बात की भी अपेक्षा नहीं होगी कि दूसरे ने भी अपना कर्तव्य हमारे प्रति निभाया है या नहीं। उसकी बात वह जाने हमने अपना ऋण अदा किया।

अपने धर्मसंप्रदाय तथा समाज - राष्ट्र के प्रति प्रेम रहेगा किन्तु उनके अन्ध विश्वासों और निष्प्रयोजन परम्पराओं में कोई योगदान नहीं होगा, बल्कि उनमें सुधार लाने की कोशिश रहेगी

अपनी स्थिति और अपने कर्तव्यों को जान लेना और तदनुसार आचरण कर सकना ही जीव की सफलता है। धन -संपत्ति - परिवार की वृद्धि को सफलता मानना गलत है क्योंकि यह तो संयोग है जिनका वियोग अवश्यम्भावी है।

संप्रदाय निरपेक्ष धर्म

भव - भ्रमण की जेल से रिहा कराने वाली मान्यतायें और व्यवहार धर्म हैं। धर्म क्या है - यह जानने के लिये किसी स्कूल विद्यालय में जाने की जरूरत नहीं है। अपना आत्मा ही अपना गुरु है जो बिना पूछे ही बताता है कि-

(१) जो आत्मा को अपने लिये प्रतिकूल लगता है उस व्यवहार का दूसरे प्राणियों के लिये नहीं करना धर्म है।

(2) जीव अन्य है, शरीर धन संपत्ति तथा देहधारी प्राणी अन्य है। अन्य से प्रतिकूल तो होना ही नहीं (चाहे वे अन्य तुम्हारे प्रतिकूल हो - वह वह उनकी भूल हैं किन्तु तूम क्या कर सकते हो ?) क्योंकि वे शत्रु हो जायेंगे। जो अशुभ हैं वे तो तुम्हारे द्वारा उनके अनुकूल व्यवहार करने पर भी शत्रु हो सकते हैं किन्तु इसमें भी तुम क्या कर सकते हो ?

जो अन्य प्रकृति से शुभ हैं वह तुम्हारी अनुकूलता का प्रत्युत्तर तो विशेष अनुकूलता से देगा हो - वह तो तुम्हारे प्रतिकूल व्यवहार पर भी सर्वथा प्रतिकूल न होकर किञ्चित मात्रा में अनुकूल ही रहेगा।

(३) आत्मा के विषय में विचार करो तो प्रतीत होता है कि यह कोई अमूर्तिका (या सूक्ष्म) चैतन्य तत्त्व है जिसकी विद्यमानता जड - शरीर को जीवित रखती है। मनुष्य की आत्मा तो इतनी अधिक विकसित है (पशुओंकी आत्मा की अपेक्षा) कि अनेक प्रकार की भाषायें -

विद्यार्थे- कलाकौशल ग्रहण करके उनका प्रयोग करता है और उसमें नित्य नयी - नयी विशेषताओं की वृद्धि करता है - ऐसे ही उन्नति करते- करते आज मनुष्य ने अपने सितारे आकाश में भेज दिये हैं और सारी पृथ्वी के निवासियों की रेडियो-टेलिविजन - वायुयानों-टेलीफोन द्वारा निकटतम ला दिया है । इसी अद्भुत शक्ति ने आणविक बमों का निर्माण करके सबको निकट आती हुई प्रलय से भयभीत भी कर रखा है ।

मनुष्य बन्धन है । प्रत्यक्ष ही शरीर के परकोटे में बन्दी है । शरीर की जरूरतें पूरी करने के लिये उसे अन्य पदार्थों (धन, संपत्ति, पशु , मनुष्य परिवार , समाज, राष्ट्र , शिक्षा , व्यापार, मित्र, संबंधी) के बन्धनों को स्वीकार करना पड़ता है । बंधन कभी सुखद नहीं हो सकता है । यदि हम आत्मा को अजर - अमर माने (जैसा कि मानने को दिल चाहता है) तो अनादि काल से आत्मा बंधन में है और इतने कल्पनातीत काल में अनन्त शरीर बदल चुका है किन्तु एकेन्द्रिय से विकास करते- करते आज मनुष्य भी हो गया है ।

(४) समय आ गया है कि बंधन से मुक्त होने का उपाय भी सोचा जाय । बंधन बढ़ाने वाले आविष्कार तो बहुत हो चुके हैं ।

(५) मूल बंधन शरीर का है । इसी मूल से बंधन का वृक्ष उगा है जिसमें असंख्यात चिन्ताओं के पत्ते , संख्यात प्रवृत्तियों की लघु शाखायें, सेंकडों आवश्यकताओं की मोटी शाखायें कुछ भोंगों के फल (जो बेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागें नीके) और सयोग के पुष्प लगे हैं । मोह का मोटा तना है ।

(६) मुक्ति का प्रयास यही हो सकता है कि वृक्ष को राग के जल और द्वेष की खाद से पुष्ट करना बन्द किया जाये । यह आदते जो स्वभाव बन चुकी हैं -- इन व्यसनों से दूर रहना भी एकदम तो असंभव ही लगता है । किन्तु जब मुक्ति का विचार आ गया है तो चित्त भूमि (मन नहीं क्योंकि मन तो शरीर वृक्ष का प्राण है) में धर्म वृक्ष का भी बीज पड़ गया है जो धीरे - धीरे ऊपर आ गया और वीतरांगता के जल से और स्वाध्याय को खाद से पुष्प होता हुआ बढ़ता जायगा । सम्यक्त्व का तना होगा, चरित्र (निवृत्ति-हम चरित्र का अर्थ प्रवृत्ति लेते रहे हैं) कि बडी शाखायें, आनन्द के पुष्प, निश्चिन्तत्व के पत्तें, विनय की लघु शाखाये होंगी । मुक्ति का फल बंधन - वृक्ष के सूख जाने पर लगेगा ।

जक तक धर्म - वृक्ष गगन चुम्बी नहीं होता है तब तक दोनों वृक्ष चित्तभूमि में साथ - साथ रहते हैं । संसार वृक्ष अपने RESERVES के सहारे और आत्मा को ही अहिंसा - सिध्दान्त के सहारे पर जीवित रहता है ।

(७) मुक्ति को प्राप्त करने वाले अर्हन्त मुक्ति का उपयुक्ति उपाय बता कर मुक्त हो गये । मुक्ति के प्रयास में संलग्न साधुवर्ग [आचार्य - उपाध्याय -सर्व साधु] ने अपने द्रव्य - क्षेत्र - काल - भाव के अनुसार उपाय का विस्तारपूर्वक अनेक रूपों में वर्णन करते हुए इसको आजतक मनुष्य के सामने रहने दिया है । अपार धार्मिक मान्य - साहित्य और जटिल तर्कहीन धर्म - परम्पराओं का विश्लेषण करने पर यह धर्मबीज हाथ आयगा जिसे अपनी चित्तभूमि में डालना और साम्यभाव है -स्वाध्याय से परिवर्धित करना आवश्यक होगा ।

(८) परम्पराओं के पालन और प्रसार को ही जो धर्म का साधन समझते रहेंगे उनको धर्मबीज की प्राप्ति पर ध्यान न जाने से तब तक मुक्ति का प्रयास प्रारम्भ नहीं होगा जब तक वे परम्पराओं का रहस्य न न जानकर वहाँ से धर्मबीज का ग्रहण नहीं करेगे ।

(९) श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने साराँश कहा है -
चारित्त खलुधम्मो , धम्मोजो सो समोत्ति निद्धिटट्ठो ।
मोह क्खोह विहोणो परिणामी अघणो दु समो ॥

चारित्र (निवृत्ति ने वीतराग) धर्म है । समता भाव वीतरागता है, आत्मा का परिणाम जो मोह क्षोभ से रहित है वही समताभाव है ।

(10) जब संसार की परेशानिये - वेदनायें अधीर करने लगे तभो अपने इन अदृश्य पांच बाह्यगुरुवों का विनयपूर्वक स्मरण (नमोकार मंत्र) हमें याद दिलाता है कि ये सब अब सदा के लिये निर्मूल होने वाली हैं - धैर्य पूर्वक अपनी आत्मा के चित्तस्वरूप का ध्यान करना ही उचित है । मुक्ति का प्रयास ही इनकी कृपा से होता है, अतः इसका धन्यवाद है

(११) जैन धर्म की या अन्य धर्मों की मान्यताओं को तर्क तथा वास्तविकता की कसौटी पर कसना ही गलत है । मान्यतायें धर्मभावों की उत्पत्ति - वृद्धि के उद्देश्यों से सब धर्म-संस्थापकों ने अपने - अपने द्रव्य - क्षेत्र - काल - भाव में अपनी शक्ति -बुद्धि के अनुसार स्थापित की थीं । वैज्ञानिक तर्क प्रधान वर्तमान युग में उनका उपहास करना गलत है । धर्म के मूल तत्त्वों को न्याय - विवेक के अनुसार किसी भी धर्म - साहित्य से ग्रहण किया जा सकता है ।

धर्म की अनुपेक्षा के कारण ही विश्व में हिंसा के साधन और वातावरण चरम सीमा तक पहुंच गया है ।

(१२) धर्म मुक्ति का उपाय तो बताती है जो उसका असाधारण कार्य है । धर्मसाधन से सादगी - वीतरागता के साथ जीवनयात्रा करने वाले मनुष्य संसार की शेष अवधितक भी आनन्द और प्रेम के साथ प्रसन्नता से जीवन व्यतीत करते हैं । साँसारिक उसफलतायें हानियें और संबधियों के विश्वासघात भी उनकी शान्ति का अपहरण करने में असमर्थ रहते हैं ।

(१३) समाज में विवाह प्रथा ही मान्य है जो दो अनज्ञान व्यक्तियों को जीवन पर्यन्त पारस्परिक बन्धन में डाल देती है इस आशा से कि इस युक्ति से उनमें प्रेम उत्पन्न हो जायेगा और दोनों का जीवन पारस्परिक सहयोग से और बच्चों के उत्पन्न होने से उत्साह तथा आनन्द से भरा रहेंगा। समाज और दोनों व्यक्तियों के परिवारों की यह आशा मृग- मरीचिका ही प्रमाणित होती है । क्योंकि मिथ्या दृष्टि - असंयमी - प्रमादी- तीव्रकषायी जीव कैसे मिलकर रह सकते है ? वे तो भय - आशा - लोभ के कारण ही उपद्रव से रोके जा सकते है । अपवाद स्वरूप कुछ ही विवाह सफल हो सकते हैं- वे भी उन युवक - युवतियों के, जिनके धर्म के तत्वों में रुचि होती है और इस कारण वे पारस्परिक विभिन्नताओं को क्षमा (सह) करते हैं । अज्ञानी माता पिता और समाज विवाह का उत्सव मनाता है जिससे दुःखद दहेज - प्रथा का जन्म हुआ है ।

(१४) धर्म के तत्व ही प्रयोजनभूत हैं । धर्म की मान्यतायें और परंपरायें प्रयोजनभूत नहीं है । धर्म तत्वों का प्रयोग करने वाले के लिये वे आवश्यक है । एक धर्म की मान्यतायें और परम्पराय शेष संसार की दृष्टि में तर्कहीन मिथ्या और उपहासास्पद हैं किन्तु मोही जीव उनके कारण पारस्परिक संघर्ष विद्वेष में पड़े रहते है । यह अज्ञान और अहङ्कार का अभिशाप है । मान्यताओं तथा परम्पराओं के चक्रव्यूह में फंसे जीवों को तत्व की अपराधना और साधना करने में रुचि ही नहीं होती है । धर्मोपजीवी विद्वद्गर्ग तथा गुरुवर्ग अपने प्रतिष्ठा - लाभ के लिये मान्यताओं - परम्परों को प्रधानता देते हैं । कन्तु धर्म तत्व भी उन्हें धर्म की उपयेगिता तथा महत्व सिद्ध करने के बताने लिये पडते है । आत्मकल्याण के इच्छुक व्यक्ति को उनसे केवल तत्वज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिये ।

(१५) धर्म सूक्ष्म आत्मामेस्थिरता - शान्तिबल का संचार करने वाला मनो वैज्ञानिक भावात्मक तत्व है । मन्दिर , मूर्ति, शास्त्र , पुराण, तीर्थक्षेत्र रथयात्रा पूजा,विधान , आदि की स्थूल स्थापनायें

(अनेक अतिशयपूर्ण मान्यताओं सहित और विविध क्रियाकाण्ड सहित) धर्म के मनोवैज्ञानिक भावों को नवागन्तुक शरणार्थियों में उत्पन्न करने हेतु भूतकालीन धर्माध्यक्षों ने स्थापित की थीं। मूल स्थापनाओं के अनेक विकृतियाँ भी प्रवेश कर गयीं हैं। आधुनिक मानव यदि धर्मतत्त्व को सीधा गृहण करने में समर्थ है तो उसे किसी मान्यता - परम्परा का आलंबन लेने की जरूरत नहीं है।

आजकल खेदजनक विपरीत बात यह हो रही है कि तर्कहीन इ हस्यास्पद मान्यताओं परम्पराओं को धर्मगुरु धर्म का अनिवार्य अंग घोषित करते हैं और प्रक्रिया में युवा वर्ग धर्म को ही तर्कहीन इ हस्यास्पद समझकर उससे ही पूर्णतः विमुख हो रहे हैं। युवावर्ग को जानना चाहिये कि धर्म आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुकूल जीवन चर्चा बनाने से ही उसका जीवन सुख - शान्ति - बल से पूर्ण हो सकेगा।

(१६) मान्यतायें परम्परायें धर्म के चित्र के लिये फेम की तरह होती हैं। फेम भी दिन प्रतिदिन विकृत होता जाता है। फेम का लाभ भी है और उससे हानि भी है यही समस्या है, फिर भी विवेकी वे व्यक्तियों का उद्धार होता है - उन्हें यथार्थ मार्गदर्शन केवल चित्र पर ध्यान केन्द्रित रखने से होता रहता है।

(१७) मान्यतायें धर्मसंप्रदाय का अङ्ग ही होती हैं। उनका संशोधन परिवर्तन - निर्मूलन लगभग असम्भव ही होता है। उनसे तो मानसिक असह-योग ही हो सकता है और उतना ही स्वस्थ प्रगतिशील होने के लिये पर्याप्त है। किन्तु परम्परायें सक्रिय रूप से तंग करती हैं - उनसे असहयोग का अर्थ होता है 'समाज से असहयोग'। साहसी व्यक्ति ही परम्पराओं से असहयोग करने में सफल होते हैं।

सभी मान्यतायें और परम्परायें असहयोग की पात्र नहीं होती हैं। जो आज भी युक्ति युक्त हैं और समाज - राष्ट्र का गौरव बढ़ाती हैं वे उपादेय और प्रशंसनीय हैं। कोई भी मान्यता परंपरा जो व्यक्ति परिवारों के लिये कष्टदायक हैं और लाभदायक नहीं हैं, वे असहयोग की पात्र हैं।

(१८) धर्म साधना का विषय है, व्यवसाय का नहीं। कुछ परम्परायें जिनके कारण धर्म कुछ व्यक्तियों के लिये व्यवसाय बन गया है, उनके हो कारण धर्म राग - द्वेष मोह का विरोधी होने की बजाय इन विभावों का पोषक और समाज - राष्ट्र मानवता में उपद्रव - विद्वेष - रक्तपात का कारण बनता रहा है। इसी कारण धर्म की छवि कलङ्कित है। जो व्यक्ति धर्म के माध्यम से ख्याति- लाभ - आजी कि प्राप्त कर रहे हैं वे धर्म और मानवता के प्रति अपराध कर रहे हैं।

निर्ग्रन्थ धर्मात्मा के लिये आहार - औषधि -शास्त्र -अभयदान और गृहस्थ- धर्मात्मा को सहजभाव से प्राप्त आदर इस कोटि में नहीं आत हैं

(१९) मान्यतायें स्थापना - निक्षेप के अन्तर्गत की जाती रही हैं जैसे शतरंज के मोहरों में राजा मन्त्री हाथी घोड़े सिपाही की स्थापना की जाती विज्ञान अपनी मान्यताओं को Workina hyposis (कार्यकारी अनुमान कहता है किन्तु जो उसका पूर्वानुमान उपयुक्त प्रमाणित हो जाता है उसे बदलकर दूसरा बना लेता है जबकि धर्म को मान्यताये परिवर्तनीय होने के कारण ही मनुष्य के जीवन में विषम -स्थिति बना रखी है । धर्म के विद्वानों गुरुओं को उचित है कि वे मान्यताओं का स्वरूप समझकर असगत पड. गयी मान्यताओं को बदल दे ।

(२०) बन्धन का उत्सव मनाना स्वतन्त्रता क आदर्श के विपरीत है । विवाह का रूप यह होना चाहिये कि दो स्वतन्त्र व्यक्ति पारस्परिक सहयोग से जीवन में एक परिवार बनाकर रहेगे का संकल्प करते है । उसमें एक दूसरे की भूलों तथा कमियों का क्षमा करते रहना अनिवार्य होगा ।

(२१) धर्माचार्यों द्वारा स्थापित मान्यताओं को जन्म से ही यदि सुनते सुनते आसिक्त और श्रद्धा के भाव हो

जायें तो उससे व्यक्ति में स्थिरता - शान्ति बल का संचार होता है तथापि इसे अन्य संप्रदायो की मान्यताओंका तिरस्कार करना उचित नहीं है क्योंकि सब अपने भक्तों - अनुयायियों के लिये वैसे हा लाभप्रद हो रहो हैं । सब धर्मावलम्बियों को उचित है कि मान्यताओं को कल्पित इ स्थापनायें ही जाने ताकि परस्पर जन७की बाबत संघर्ष - विद्वेष न हो अपनी - अपनी मान्यताओं को मान्यताओं जानते हुवे रखने में कोई हानि नहीं है ।

(२२) मान्यतायें खेल हैं । उनके खेल की तरह आनन्द आता है । खेल के नियम और रूप हम ही निश्चित कर लेते हैं और उनको बदल भी सकते हैं बदलते भी रहते हैं । नये खेल, नयी मान्यतायें भी बना सकते हैं । सब जीवन में सौन्दर्य लाने के साधन हैं ।

सहारनपुर का नामकरण

मुगल काल में दिल्ली में लाला गुलाबराय मेहरचन्द के द्वारा बनाये गये दिगम्बर जैन मन्दिर का जो

विवरण LIST OF MUHAMADAN AND, HINDU MONUMENTS, VOLUME I,में

प्रकाशित है ,

उसे यहाँ उद्घृत किया जाता है । इससे प्रमाणित होता है कि सम्राट अकबर से प्राप्त जागीर के

स्थल पर

श्री सहारनबीर सिंह ने यह शहर बसाया था ।

Extract from list of Muhamadan and Hindu Movements vol.

The temple was built by Lala Gulab Rai.It is a double storeyed building,
while the

Lower one is used as a dwelling house by a relative of the owner.

Gulab Rai, the founder of the temple was the son of SAHARANBIR
SINGH,

Who founded the town of SAHARANPUR, For which he was given a
Jagir by Emperor Akbar. Gulab Rai was the first of the family to
come to Delhi, where he started a banking business. During his life
time the Bank acquired great fame, and after his death it was
styled GULAB RAI Muhamadan Emperor of Delhi, was appointed
Government Treasurer by the English in

१८२५ and gave satisfacion.

There are about ३० images in the temple including that of
CHANDRAPARBHU

The ८th Treasurer that of PARAS NATH २३ rd Tirthankar and that of
MAHABIR,

The २४th Tirthankar.

प्रकाशकीय वक्तव्य

हमें अनुप्रेक्षकों के सम्बन्ध में नवीन विस्तृत विवेचन समाज - राष्ट्र के बुद्धिमान विवेकी वर्ग के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष है। विशेष हर्ष उस समय होगा जब प्राप्तकर्त्ताओं की प्रतिक्रिया प्राप्त होगी जिसके आधार पर विवेचक तथा सम्पादक इसकी पुनरावृत्ति में संशोधन कर सकेंगे।

संसार की अनित्यता अशरणता से सामान्य मानव घबराता है क्योंकि वे इनसे जीवैषणा तथा विषयाभिलाषा की तृप्ति न देखकर इनमें कृष्णपक्ष से असन्तुष्ट होता है। अपनी आतुर में तथा कविगण द्वारा पर्याप्त मार्गदर्शन के अभाव में वह इनमें उज्ज्वल पक्ष को नहीं देखता है कि ये ही विकास तथा आत्मशक्ति की पूर्णता के भी तो कारण हैं। परिवर्तन प्रकृति का अटल नियम है (Change is the law of nature) अनित्य अनुप्रेक्षा इसी नियम को तो सामने लाती है। इस विवेचन में यही प्रयत्न किया गया है कि अनुप्रेक्षकों पर पूर्ण रूप से विचार करके उनसे संवर तत्व की उपलब्धि हो।

विवेचक के सम्बन्ध में अखिलभारतीय दिगम्बर जैन शास्त्री - परिषद द्वारा सन १८७३ में प्रकाशित विद्वत्- अभिनन्दन - ग्रन्थ का वक्तव्य है कि-

‘सहारनपूर के मौहल्ला संज्ञान के चौधरी, के चौधरी परिवार में पंडित सुखमाल चन्द्र का जन्म चैत्र कृष्णा चतुर्थी, वि. सं. १८६६ में श्रीमती अचम्भी देवी की कुक्षि से हुआ। आपके पिता

श्री लाला बारुमल जैन स्थानीय जिले के राजकीय कोष में खजान्ची थे। पिताजी में भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति लवलेश मात्र भी नहीं थी। संज्ञान मोहल्ले के मन्दिर जी के निर्माण में आपके परिवार का मुख्य सहयोग रहा।’

आपने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से १८३० में संस्कृत और दर्शनशास्त्र विषय लेकर बी. ए. पास किया।

आपका पाणिग्रहण श्रीमती दर्शनमाला, सुपुत्री लाला इन्द्रमल जैन, करनाल से १८२८ में

सम्पन्न हुआ। अपने ज्येष्ठ पुत्र राजराजेश्वर को भारतीय वायु सेना में पाइलट के पद पर प्रविष्ट कराया, जिसने देश सेवा के पुण्य कार्य को किया किन्तु दुर्भाग्यवश डेढ वर्ष के पश्चात विमान दुर्घटना में २-१०-५६ को उनकी मृत्यु हो गई।

प्रारम्भ में आपने एक वर्ष १८३०-३१ में जैन स्कूल, सहारनपूर में मुख्याध्यापक के पद पर कार्य किया। १८३२-६८ तक भारतीय सेना मुख्यालय में सेवारत रहे और अन्त में सिविलियन स्टाफ

आफीसर के पद से अवकाश ग्रहण किया।

जिनबाणी प्रचार के लिए श्री सत्साहित्य संबर्धन केन्द्र की स्थापना की एव अपन निवार में श्री

सुवर्णभद्रकूट चैत्यालय की प्रतिष्ठा करायी।

दहेज विरोध में आपका सक्रिय कदम रहा। समाज सुधार की दृष्टि से (दहेज उन्मूलन) १८५४-५५ में एक पत्रिका 'जीवन का आधार' प्रकाशित की। बच्चों को धार्मिक शिक्षण की सुविधा

हेतु आपने एक रविवारीय स्कूल की स्थापना की थी। आपने चार पुत्रों तथा चार पुत्रियों के विवाहों

में न दहेज लिया न ठहराव कर दिया ही।

पुत्र और पुत्रियों के नामकरण बड़े ही लालित्यपूर्ण और साहित्यिक नामों से किया। बड़ी सुपुत्री वीणापाणि और अन्तिम लघुपुत्र तथागत हैं।

आपने आत्मकल्याण मण्डल की स्थापना की जो १८४१ से दस वर्ष तक चली। अपने पत्र व्यवहार द्वारा आप अपने सुदूरवर्ती मित्रों को धर्म के लिये प्रेरित करते रहते हैं।

साहित्यसृजन

के संदर्भ में आपके लेख Voice of ahimsa Jain gazatte, सन्मति संदेश में प्रकाशित हुवे।

रत्नदीप भाग १,२,३, आपकी स्वमन्त्र रचनायें हैं।

१८८५ में जैन मिलन इण्टरनेशनल ने आपको समाज सेवी वीर द्वारा आपके ७५ वर्ष पूर्ण हाने पर अभिनन्दन अन्य वयोवृद्धों के साथ किया।

आप हस्तिनापूर के मुमुक्षु आश्रम में अवकाश ग्रहण करने के बाद ग्यारह वर्ष तक रहे।

जिस कमरें में रहे उसका जीर्णोद्धार कराया । श्री जैन मन्दिर को स्टील - काष्ठ की नौ अल्मारियों तथ अमूल्य साहित्य अपने पुत्र फलाइ ग आफीसर राजराजेश्वर की स्मृति में समर्पित किया । जैन संदेश का स्थायी शुल्क भी फलाइ ग आफीसर राजराजेश्वर स्मारक पुस्तकालय, कस्तिनापुर^१ के नाम से दिया । यह पुस्तकालय वहाँ पर बने सरस्वती भवन में प्रतिष्ठित होने के लिये दिया गया

था किन्तु खेद है कि समाज-सं-थाओं के पदाधिकारी अपने वचन का निर्वाह नहीं करते हैं । दातार के द्रव्य के दुरुपयोग का परिणाम अपराधी व्यक्ति स्वयमेव कालान्तर में प्राप्त करेंगे ।
जिनवाणी

माता की अवहेलना गुरुत्तर अपराध है दातार भी अपने परिणामों - संचितकर्मों तथा राष्ट्र-समाज के वातारण के अनुसार अनुभव करने के लिये विवश है ।

हस्तिनापूर में आप जब तक रहें प्रायः शास्त्र-प्रवचन करते रहें और अष्टान्हिका पर्वों में सिध्द चक्र-विधानों में भी भाग लेते रहे । एक जिनवाणी प्रसार केन्द्र की भी स्थापना की और स्वयं ही उसे चलाते भी रहे । स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण ही उनकी वहां से अन्य आश्रमवासियों की

भान्ति परिवार में ही वापिस आना पडा ।

१८८४ में भव-विकट-वन का आपने संपादन किया जिसमें आपके लख में अनेक धार्मिक शकाओं का समाधान किया गया है । उदाहरणार्थ आपने बताया कि रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदि नरकों

की भूमियों के नाम अनैतिकता के स्तरों को सूचित करते हैं । असफल अनैतिकता रत्न प्रभा है, कर्म सफल शर्करा प्रभा है, असफल बालुका प्रभा है, कानून के शिकंजे में फसी अनैतिकता पडक प्रभा है इत्यादि । इस प्रकार को शिक्षा स्पष्ट न दी जा सकने के कारण नरको-स्वर्गों के रूपक से दी जाती थी ताकि बहुसंख्यक तथा बलवान अनैतिक मानव-समाज धर्म-संस्था को ही नेस्त-नाबूद न करदे । भव-विकट-वन पुस्तक के संबंध में आशुकवि पंडित कल्याण कुमार 'शशि'^१ रामपुर,

ने अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त की है - 'यह पुस्तक समय की पुकार है !!!

स्वागत करता हूँ ।^१

१८८५ में संवरअनुप्रेक्षा पर एक निबन्ध प्रकाशित किया जो समाज के विद्वानों को बहुत रुचिपूर्ण तथा अदभुत लगा। उनके पत्रों से प्रेरित होकर आपने अन्य अनुप्रेक्षाओं पर विवेचन लिखे हैं जो अब आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं।

आधुनिक कवियों से निवेदन है कि वे अपनी कला का सदुपयोग इसी प्रकार अनुप्रेक्षाओं का चित्रण पद्यबद्ध करने में प्रयुक्त करें। जो रचनायें हमें प्राप्त होंगी उनको हम अवश्य ही धन्यवाद सहित प्रकाशित करेंगे। संपादक - मंडल द्वारा निर्णीत सर्वोत्तम तीन रचनाओं पर पुरस्कार भी भेंट करेंगे।

जिन बन्धुओं को यह पुस्तक डाक द्वारा भेजी जा रही है, उनसे निवेदन है कि कृपा करके तुरन्त ही एक पोस्टकार्ड द्वारा पुस्तक की सूचना अवश्य भेज दें। सूचना प्राप्त नहीं होगी तो हम यह समझेंगे कि पुस्तक डाक विभाग में गुम हो गयी है। अपने पत्र में वे कृपा कर स्थानीय कवियों और आध्यात्मिक- रसज्ञोंके पते भी भेज देगे तो हम उन पतों पर पुस्तक भेजेगे।

समाचार - पत्र - पत्रिकाओं के सम्पादकोंश, से निवेदन है कि वे पृथक -पृथक अनुप्रेक्षाओं पर विवेचन अपन प्रकाशनों मे प्रकाशित करने की कृपा करें तथा उन अड.ों को हमें प्रेषित करें।

जो बन्धु इस पुस्तक का कोई भाग या पूरी पुस्तक भी प्रचारार्थ छापना चाहें तो वे सहर्ष ऐसा कर सकते है। अपने उस प्रकाशन की दस प्रतियें भेजने की कृपा करें। किसी अभिनन्दन स्मारिका आदि में प्रकाशित करें तो केवल तीन प्रतियें ही भेजने कृपा करें।

जो बन्धु हमारे ही द्वारा प्रकाशित होने वाली इस पुस्तक की संशोधित परिवर्तित द्वितीयावृत्ति के प्रकाशन में जो सहायता करना चाहते हैं उसे हमारे पास भेजने की कृपा करें उनके शुभ नाम उस प्रकाशन में साभार प्रकाशित किये जायेंगे।

अन्त में हम अपने पाठकों से यही विनम्र निवेदन करते हैं कि पुस्तक के मुद्रण कार्य में जो अशुद्धियाँ हुई हैं उनकी ओर ध्यान न देकर उनके सही रूप की समझ विवेचक के विचारों को महत्व दें। हम तो केवल उनके अमूल्य विचारों को आपके सामने पुस्तक के पृष्ठों में पिरो कर रख रहे हैं। यदि एक कदम आगे बढ़ें तो यह कहे बिना नहीं रहेंगे कि

विवेचक एक ऐसी विभूती है जो समाज को ही नहीं पूरे राष्ट्र की सेवा में रत है।

निवेदक

डी.पी.जैन एम. ए. हिन्दी एवं

श्रीमती चक्रेश जैन एम.ए. (हिन्दी संस्कृत)

कृते, फलाइ ड.आफीसर-राजराजेश्वर पुस्तकालय

११।४१८७अम्बाला रोड, सहारापूर- २४७००१